साहित्य-सुषमा

सम्पादक—

एक रिटायर्ड प्रोफेसर

प्रकाशक—

मोतीलाल बनारसीदास
पुस्तक - विक्रेता
बाँकीपुर, पटना।

तृतीय संस्करण] १९४० [मूल्य १।)

विषय-सूची

प्रस्तावना

मनुष्यमात्र में भावों और विचारों का होना तथा उन विचारों के प्रकट करने की प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक है। इन्हीं सुचारु रूप से प्रकट किए हुए भावों और विचारों के समुदाय का ही नाम साहित्य है। सुन्दर ढंग से प्रकट किए हुए उद्गारों का नाम काव्य है। जब ये उद्गार विशेष प्रभावशाली और सुन्दर बनाने के लिए छन्द-बद्ध भाषा में प्रकट किए जाते हैं तब उन्हें कविता कहते हैं।

हिन्दी-कविता ने देश की राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर भिन्न २ रूप धारण किया। हम हिन्दी-कविता के विकास को चार भागों में बाँट सकते हैं:—

(१) वीर-गाथा-काल—संवत् ११०० से १४०० तक
(२) भक्ति-काल —सं० १४०० से १७०० तक
(३) रीति-काल —सं० १७०० से १६०० तक
(४) गद्य-काल —सं० १६०० से वर्त्तमान समय तक।

वीर-गाथा-काल—हर्षवर्द्धन की मृत्यु के बाद भारत की राजनैतिक एकता नष्ट होने पर देश में चारों ओर उपद्रव दिखाई देने लगे। ऐसी स्थिति में लोगों में वीर भाव की जागृति आवश्यक थी। उस समय के प्रधान कवि चन्द बरदाई और जगनिक थे। 'पृथ्वीराज रासो'

में चन्द बरदाई ने मुहम्मद गोरी के और 'आल्ह-खण्ड' में जगनिक ने क्षत्रियों के पारस्परिक-युद्धों का वर्णन किया।

भक्ति-काल—विजेता मुसलमानों के अत्याचारों को दूर करने के प्रयत्न का काल भक्ति-काल है। निराश होने पर मनुष्य ईश्वर का ही आश्रय ग्रहण करता है। भक्त कवियों ने निर्गुण और सगुण भक्ति का प्रचार किया। निर्गुण कवियों में कबीर का नाम सर्व-प्रथम उल्लेखनीय है। जनता में ऊँच नीच का भाव दूर कर एकता का प्रचार उन्होंने किया। उनके बाद सूफी-मत के अनुयायी जायसी ने लौकिक प्रेम के द्वारा ईश्वरीय प्रेम की प्राप्ति अपनी वाणी के द्वारा प्रकट की। इसके बाद सूरदास, तुलसीदास तथा मीराबाई आदि ने राम और कृष्ण के रूप में सगुण-उपासना का प्रचार किया। संवत् १५०० से हिन्दी का स्वर्ण-युग समझा जाता है। इस काल में भक्त-कवियों के सिवा केशवदास, गंग, नरोत्तम दास, रहीम, रसखान इत्यादि ने काव्य-साहित्य की वृद्धि की।

रीति-काल—इस युग में हिन्दी की कविता पर मुसलमानों की विलासप्रियता का विशेष प्रभाव पड़ा, जिसके फलस्वरूप शृंगार-रस का समावेश अधिक से अधिक हुआ। बिहारीलाल इस काल के सबसे बड़े कवि समझे जाते हैं। इनके अतिरिक्त देव, पदमाकर आदि भी इसी समय हुए।

गद्य-काल—रीति-काल के अन्त में खड़ी बोली का उदय हुआ। मुंशी सदासुख, इन्शाअल्ला खाँ तथा लल्लूलाल ने खड़ी बोली के गद्य की नींव डाली। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह इस युग के प्रधान लेखक समझे जाते हैं। इसके बाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का समय

आता है। ये वर्त्तमान हिन्दी के निर्माण करने वाले और नाटक साहित्य के प्रवर्तक माने जाते हैं। भारतेन्दु के बाद श्रद्धेय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने हिन्दी-गद्य का रूप स्थिर किया और भाषा को शुद्ध बनाने की पूरी चेष्टा की। द्विवेदी जी के प्रयत्न से खड़ी बोली में अच्छी २ कविताएँ होने लगीं। इनके शिष्य श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत-भारती' इत्यादि खड़ी बोली की रचनाओं के द्वारा मार्ग प्रदर्शन का काम किया। इसी समय पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, श्रीधर पाठक आदि हुए। हिन्दी की उन्नति के लिए रा. ब. श्यामसुन्दर दास ने नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा पूरी चेष्टा की। जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' तथा वियोगी हरि ने ब्रज-भाषा में कविता कर उसे जीवित रखने का प्रयत्न किया।

नवीन युग के कवियों ने काव्य-भाषा और विषयों के साथ २ छन्दों को भी बदल डाला। इन कवियों में 'निराला' तथा 'पन्त' जी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वर्त्तमान छायावाद की कविता की एक विशेषता उसकी जटिलता कही जा सकती है। ये कवि अपनी कविता को सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त रखना ही श्रेयस्कर समझते हैं।

अब कुछ इस संग्रह के विषय में। यह पुस्तक इन्टरमीडिएट कक्षा के विद्यार्थियों के लिए तैयार की गई है। हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों की सर्वोत्तम रचनाएं इस पुस्तक में रखी गई हैं। उन्हीं कवियों की रचनाएं इसमें मिलेंगी जो किसी विशेष शैली के प्रवर्तक समझे जाते हैं। आशा है, इस संग्रह से विद्यार्थियों को उचित लाभ पहुँचेगा।

विद्यापति

विद्यापति ठाकुर का जन्म दरभंगा जिला के बिस्फी नामक ग्राम में हुआ था। ये मैथिल ब्राह्मण थे। इनकी जन्मतिथि का निश्चय अब तक नहीं हो सका है। पर यह निश्चित है कि विद्यापति विक्रम संवत् १४६० में वर्त्तमान थे। कब इनका देहावसान हुआ, यह भी कहना कठिन है। इस सम्बन्ध में केवल इतना ही मालूम है कि—

विद्यापतिक आयु अवसान।
कार्तिक धवल त्रयोदशि जान॥

इनका जन्म एक प्रतिष्ठित और सम्पन्न मैथिल ब्राह्मण के घर हुआ था। यह वंश विद्वत्ता और मर्यादा के लिए प्रसिद्ध था। इनके पिता गणेश ठाकुर लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् थे। अध्ययन समाप्त करने पर इन्होंने अध्यापन का कार्य आरम्भ किया और काफी प्रतिष्ठा इन्हें मिली। पीछे ये महामहोपाध्याय हुए। शिवसिंह के सिंहासनारूढ़ होने के चतुर्थ वर्ष में ये राजपण्डित बनाए गए।

विद्यापति की पदावली में बहुत से पद्य ऐसे हैं जिन में राजा शिवसिंह और उनकी रानी लखिमा देवी का नाम आया है। जहां भी शृङ्गार-रस का कोई मधुर वर्णन आया है, वहां विद्यापति ने लिखा है कि इस रस को राजा शिवसिंह और लखिमा देवी ही जानते हैं। इससे यही सिद्ध होता है

कि राजा शिवसिंह इन्हें बहुत मानते थे।

विद्यापति संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान् थे। हिन्दू देवी देवताओं के यथार्थ रूप से परिचित होने के कारण उनके किसी विशेष रूप की ओर उनका भेद भाव या पक्षपात नहीं था। सब की उपासना ये समान श्रद्धा से करते थे। अपनी परिमार्जित भाषा, लोक प्रियता और विद्या-बुद्धि के बल पर इन्हें पूरा भरोसा था। मालूम होता है कि इनकी रचना का जनता खूब आदर कर रही थी और इससे उन्हें बहुत उत्साह मिल रहा था। अपनी रचना के विषय में ये कहते हैं—

बालचन्द बिज्जाबइ भाषा।
दुहु नहिं लग्गइ दुज्जन हासा॥

मिथिला में गीतों के लिखने वाले बहुत से हुए और अब भी वर्त्तमान हैं। समाज ने सब का यथोचित आदर किया और अब भी कर रहा है। किन्तु जो आदर विद्यापति को मिला वह आदर पाने का सौभाग्य किसी कवि को न हुआ। इसका कारण कवि की सहृदयता, परिमार्जित प्रतिभा और मधुर रचना है।

विद्यापति के पद मिथिला की सीमा के भीतर ही आबद्ध नहीं रहे। दक्षिण और पश्चिम बिहार में भी गवैये इनके पद्य गाया करते हैं। बिहार से अधिक बंगाल में विद्यापति का प्रचार हुआ। वहां इनका इतना अधिक प्रचार हुआ कि वहां के लोग इन्हें बंगाली ही नहीं, बल्कि बङ्गसाहित्य का जन्मदाता और आदि कवि समझने लगे।

विद्यापति के पदों में कभी कभी लोगों को अश्लीलता का आभास मिलता है। इसके कारण हैं। स्त्री-पुरुष के रूप में जीवात्मा और परमात्मा

का सम्बन्ध देखने से उनके वर्णन में स्त्री-पुरुष सम्बन्धी भाषा, भाव और अलंकारों के प्रयोग ही उपयुक्त हो सकते हैं।

जिस समय इनके पद गाए जाते हैं, मालूम होता है मधु-धारा बह रही है। ऐसे कोमल और चित्त को अभिभूत करने वाले पद हिन्दी साहित्य में बहुत कम मिलते हैं। शब्द-लालित्य की दृष्टि से संस्कृत-साहित्य में कालिदास, भवभूति, माघ और श्रीहर्ष के रहते हुए भी जयदेव का जो स्थान है, सूर और तुलसी के रहते हुए हिन्दी में भी विद्यापति का वही स्थान है।

सन्तमत के पद

(१)

सुनु रसिया ।

न बजाउ बिपिन बसिया ॥

बार बार चरणारविन्द गहि सदा रहब बनि दसिया ।
कि छलहुँ कि होएब से के जानए वृथा होएत कुल हसिया ।
अनुभव ऐसन मदन भुजङ्गम हृदय हमर गेल डसिया ।
नन्द नन्दन तुअ सरन न त्यागब बनु जनु अहाँ दुरजसिया ।
विद्यापति कह सुनु बनितामनि तोरे मुखे जीतल ससिया ।
धन्य धन्य तोर भाग गोआलिनि हरिभजु हृदय हुलसिया ।

(२)

हरि हरि बिलपि बिलापिनि रे लोचन जलधारा ।
तिमिर चिकुर घन पसरल रे, जनि बिजुलि अकारा ।
नील बसन तन बाँधल रे, उर मोतिक हारा ।
सजल जलद कत झाँपव रे, डग मग करु तारा ।

उठि उठि खसय कत योगिनि रे, बिछिया जुग जाती।
पवन पलट पुनि आओत रे, जनि भादव राती।
यामिनि सभकें बरननि रे, बिरहिन थिक वामा।
सभसएँ बड़ थिक अनुभव रे, धीरज धरु रामा।

(३)

नाव डोलाव अहीरे, जिवइते न पाओव तीरे, खर नीरे लो।
खेव न लेअए मोले, हसि हसि की दहुँ बोले, जिव डोले लो॥
कके विके ऐलिहु आपे, वेढ़लिहु मोहि बड़ सापे, मोर पापे लो।
करिनहुँ पर उपहासे, परिलिहुँ तहि विधि फाँसे नहि आसे लो॥
न बूझसि अबुझ गोआरी, भजि रहु देव मुरारी, नहि गारी लो।
कवि विद्यापति भाने, नृप सिवसिंह रस जाने, नर कान्हे लो॥

(४)

तोहें जलधर सहजहिं जलराज। हमें चातक जलबिन्दुक काज।
जल दए जलद जीव मोर राख। अवसर देले सहस हो लाख।
तनु देअ चाँद राहु कर पान। कबहु कला नहिं होअ मलान।
वैभव गेले रहए बिवेक। तइसन पुरुष लाख थिक एक।
भनइ विद्यापति, दूती से। दुइ मन मेल करावए जे।

(५)

कि कहब हे सखि कानुक रूप। के पतियाएत सपन सरूप।
अभिनव जलधर सुन्दर देह। पीत बसन पर दामिनि रेह।
सामर झामर कुटिलहिं केश। काजरे साजल मदन सुवेश।

जातकि केतकि कुसुम सुबास। फुलशर मन्मथ तेजल तरास।
विद्यापति कह कि कहब आर। सून करल विह् मदन भंडार।

(६)

माधव हमर रटल दुर देस। केओ न कहए सखि कुशल संदेस।
जुग जुग जिबथु बसथु लख कोस। हमर अभाग हुनक कोन दोस।
हमर करम भेल बिह् बिपरीत। तेजलन्हि माधव पुरबिल पिरीत।
हृदयक बेदन बान समान। आनक दुःख आन नहिं जान।
भनहिं विद्यापति कबि जयराम। कि करत नाह दैब भेल बाम।

(७)

सखि हे हमर दुखक नहिं ओर।
इ भर बादर माह भादव शून्य मन्दिर मोर।
झंपि घन गरजन्ति सन्तति भुवन भरि बरसन्तिया।
कन्त पाहुन, काम दारुन, सघन खर शर हन्तिया।
कुलिश कत सत पात मुदित मयूर नाचत मातिया।
मत्त दादुर डाक डाहुक फाटि जायत छातिया।
तिमिर दिग भरि घोर यामिनि अथिर बिजुरिक पाँतिया।
विदूयापति कह कैसे गमाओव हरि बिना दिन रातिया।

॥ प्रार्थना ॥

(१)

तातल सैकत वारिबिन्दुसम सुतमित रमनी समाजे।
तोहि बिसरि मन ताहि समर्पल अब मझु होव कोन काजे।

माधव हम परिणाम निराशा।
तुहुँ जग तारण दीन दयामय अतए तोहार बिस्वासा।
आध जनम हम नींदे गमाओल जरा शिशु कत दिन गेला।
निधुवन रमनी रस रँग मातल तोहें भजब कोन बेला।
कत चतुरानन मरि मरि जाएत न तुअ आदि अवसाना।
तोहे जनमि पुनि तोहे समाओत सागर लहरि समाना।
भनए विद्यापति सेस शमन भय तुअ विनु गति नहिं आरा।
आदि अनादिक नाथ कहाओसि अब तारन भार तोहारा।

(२)

जय जय भैरवि असुर भयावनि पशुपति भाविनि माया।
सहज सुमति वर दियउ गोसाउनि अनुगति गति तुअ पाया।
वासर रैनि शवासन सोभित चरन चन्द्रमनि चूड़ा।
कतउक दैत्य मारि मुँह मेलल कतउ उगिल कैल कूड़ा।
सामर वरन नयन अनुरंजित जलद योग फुल कोका।
कट कट विकट ओठ फुट पाँड़रि लिधुर फेन उठ फोका।
घन घन घनय घुघुर कत बाजय हन हन कर तुअ काता।
विद्यापति कबि तुअ पद सेवक पुत्र विसरु जनु माता।

(३)

कनक भूधर शिखर वासिनि, चन्द्रिका चय चारु हासिनि,
दसन कोटि विकास, वङ्किम तुलित चन्द्रकले।
क्रुद्ध सुर रिपु बल निपातिनि, महिष शुम्भ निशुम्भ घातिनि,

भीत भक्त भयापनोदन, पाटल प्रबले ।
जय देवि दुर्गे दुरित हारिणि, दुर्गमारि विमर्द कारिणि,
भक्ति नम्र सुरासुराधिप, मङ्गलायत रे ।
गगन मण्डल गर्भ गाहिनि, समरभूमि सुसिंह वाहिनि,
परसु पास कृपाण सायक शङ्ख चक्र धरे ।
अष्ट भैरवि सङ्ग शालिनि, सुकर कृत्त कपाल मालिनि,
शोणित
. . . . । मोचिनि, चन्द्र भानु कृशानु लोचनि,
जोगिनी गण गीत शोभित नृत्य भूमि रसे ।
जगति
हरि विरञ्चि महेश शेखर, चुम्ब्यमान पद ।
सकल पापकला परिच्युति, सुकवि विद्यापति कृत स्तुति,
तोषिते शिवसिंह भूपति, कामना फलदे ।

॥ गङ्गा ॥

(१)

कत सुखसार पाओल तुअ तीरे ।
छाड़इत निकट नयन बह नीरे ।
कर जोड़ि विनमओं विमल तरङ्गे ।
पुन दरसन हो पुनमति गङ्गे ।
एक अपराध छेमब मोर जानी ।
परसल माय पाअ तुअ पानी ।
कि करब जप तप जोग धेआने ।

जनम कृतारथ एकहिं सनाने।
भनहिं विद्यापति समदओं तोही।
अनूकाल जनु बिसरह मोही।

(२)

ब्रह्मकमण्डलुवाससुवासिनिसागरनागरगृहवाले ।
पातकमहिषविदारणकारणधृतकरवालवीचिमाले ।
जयगङ्गे जयगङ्गे शरणागतभयभङ्गे ।
सुरमुनिमनुजरचितपूजोचितकुसुमविचित्रिततीरे ।
त्रिनयनमौलिजटाचयचुम्बनभूतिविभूषितनीरे ।
हरिपदकमलगलितमधुसोदरपुण्यपुनीतसुरलोके ।
प्रविलसदमरपुरीपददानविधानविनासितशोके ।
सहजदयालुतया पातकिजननरकविनाशनपुण्ये ।
रुद्रसिंहनरपतिवरदायक विद्यापति कवि भणितगुणे ।

नचारी
और
महेशवानी।

आजु नाथ एक वर्त्त महासुख लागत हे।
अहाँ सिव धरु नट भेस कि डमरु बजाएब हे।
अहाँ जे कहैछी गौरा नाचए हम कोना नाचब हे।
एक सोच मोरा होइय चारि कोना बाँचत हे।
अमिय चुबिअ भूमि खसत बघम्बर जागत हे

होएत बघम्बर बाघ बसहा धरि खाएत हे।
जटा सँ छिलकत गङ्ग धार बहि जाएत हे।
होएत सहस्र मुखधार समेटलो न जाएत हे।
सिरसँ ससरत साँप धरनि महँ लोटत हे।
कार्त्तिक पोसल मयूर से हो धरि खाएत हे।
रुण्डमाल टुटि खसत मसान जगावत हे।
अहाँ गौरी जाएब पराय नाच के देखत हे।
भनहिं विद्यापति गाओल गाबि सुनाओल हे।
राखल गौरी के मान सदाशिव नाचल हे।

व्यक्तिगत
और
ऐतिहासिक।

शिव सिंह का सिंहासनारोहण।

३ ९ २ ४ २ ३ १

अनल रन्ध्र कर लक्खन नरवए सक समुद्द कर अगिनि ससी।
चैत कारि छठि जेठा मिलिओ बार वेहप्पए जाउ लसी।
देव सिंह जं पुहवी छड्डिअ अद्धासन सुरराए सरु।
दुहु सुरुतान नींद अब सोअउ, तपन हीन जग तिमिर भरु।
देखहु ओ पृथिमी के राजा, पौरुस माझ पुन्न बलिओ।
सतवले गङ्गा मिलित कलेवर, देवसिंह सुरपुर चलिओ।
एकदिस सकल जबन बल चलिओ, ओका दिस से जमराए चरु

दूअओ दलटि मनोरथ पूरेओ, गरुअ दाप सिव सिंह करु ।
सुरतरु कुसुम घालि दिस पूरेओ, दुन्दुहि सुन्दर साद धरु ।
वीर छत्र देखन को कारन, सुरगन साते गगन भरु ।
आरम्भिअ अन्तेट्ठि महामख, राजसूय असमेध कहाँ ।
पण्डित घर आचार बखानिअ, जाचक काँ घर दान जहाँ ।
विज्जावइ कविवर एहु गावए, मानव मन आनन्द भएओ ।
सिंहासन सिव सिंह वइट्ठो उच्छवै बैरस बिसरि गएओ ।

शिव सिंह का युद्ध

दूर दुग्गम दमसि भञ्जेओ, गाढ़ गाढ़ गूढ़ीअ गञ्जेओ ।
पातिसाह ससीम सीमा, समर दरसेओ रे ।
ढोल तरल निसान सद्दहि, भेरि काहल संख नद्दहि ।
तीनि भुअन निकेत, केतकि सान भरिओ रे ।
कोह नीर पयान चलिओ, वायु मध्ये राय गरुओ ।
तरनि तेअ तुलाधरा, परताप गहिओ रे ।
मेरु कनक सुमेरु कम्पिय, धरनि पूरिय गगन झम्पिय,
हाति तुरअ पदाति पअभर कमन सहिओ रे ।
तरल तर तरवारि रङ्गे, विज्जुदाम छटा तरङ्गे ।
घोर घन संघात बारिस काल दरसेओ रे ।
तुरअ कोटिअ चाप चूरिअ, चार दिस चौ विदिस पूरिअ
विसम सार असार धारा धरनि भरिओ रे ।
अन्ध कूअ कबन्ध लाइअ फेरबी फफ्फरिअ गाइअ ।

सहिर मत्त परेत भूत बेताल बिछलिओ रे ।
पारमइ परिपन्थि गञ्जिअ, भूमि मण्डल मुण्ड मण्डिअ
चारु चन्द कलेव कीत्ति सुकेतकि तुलिओ रे ।
रामरूप स्वधम्म रक्खिअ, दान दप्प दधीचि बक्खिअ
सुकवि नव जयदेव भनिओ रे ।
देवसिंह नरेन्द्र नन्दन शत्रु नरवइ कुल निकन्दन
सिंह सम सिव सिंह राया सकल गुनक निधान गनिओ रे ।

महात्मा कबीरदास

कबीरदास

कबीर का आविर्भाव-काल हिन्दुओं का नैराश्य काल था। वीरशिरोमणि हम्मीरदेव के पतन के बाद हिन्दुओं की सारी आशाएँ नष्ट हो गई थीं। तैमूर के आक्रमण से यह नैराश्य चरमसीमा पर पहुँच चुका था।

बड़ी विपत्ति में मनुष्य पहले तो ईश्वर की ओर बढ़ता है, पर यदि उसकी परिस्थिति में सुधार नहीं होता तो वह ईश्वर के प्रति उदासीन हो जाता है। कभी कभी ईश्वर के अस्तित्व पर भी विश्वास नहीं करता। कबीर के जन्म-समय में हिन्दू-जनता की यही दशा थी। मुसलमानों के अत्याचार से पीड़ित हिन्दू-जनता को अपना जीवन भारस्वरूप लगता था।

कबीर ने जनता की निराशापूर्ण मनोवृत्ति को अपने कौशल से ईश्वर की ओर लगाकर हिन्दू-जाति को नष्ट भ्रष्ट होने से बचाया। ईश्वर की भक्ति का स्वरूप भी कबीर ने उस परिस्थिति के अनुसार 'निर्गुण उपासना' रखा। इससे जनता की बढ़ती हुई अशान्ति दूर हुई। निर्गुणभक्ति के प्रचार का एक कारण और भी था। मुसलमान निर्गुण-वादी थे। अतः उनसे मिलते-जुलते धर्म-मार्ग पर हिन्दुओं को लगाकर राम और रहीम की एकता दिखाकर; इन्होंने पारस्परिक विरोध दूर करने की

चेष्टा की। बहुत से हिन्दू और मुसलमान दोनों इनके शिष्य हो गए। इस प्रकार "कबीर पंथ" की नींव पड़ी। निर्गुणवाद के विशेष बुद्धिग्राह्य न होने से इन्हें अपने धर्म-प्रचार में पूरी सफलता नहीं मिली। तब भी इनकी वाणी से लोगों के चित्त बहुत कुछ शान्त हुए। साथ ही भक्ति-मार्ग की कविता की नींव पड़ी, जिसका अनुकरण अन्य सन्त कवियों ने किया।

कबीर के जीवन-चरित के संबन्ध में कुछ बातें अब तक निश्चित नहीं। ऐसा माना जाता है कि ये किसी ब्राह्मणी या हिन्दू स्त्री से उत्पन्न हुए थे, और इनका पालन किसी मुसलमान-कुल में हुआ था। इनके ऊपर महात्मा रामानन्द के उपदेशों का बहुत प्रभाव पड़ा था। इन्हीं को कबीर ने युक्ति से अपना गुरु बनाया। पढ़े लिखे न होने पर भी कबीर ने सत्संग-द्वारा ज्ञानार्जन किया। धर्म के गूढ़ तत्त्वों को समझा। मनन-द्वारा उन्हें हृदयंगम किया और तब उनका प्रचार किया। उन्होंने मनन का महत्त्व "सो ज्ञानी जो आप विचारै" कह कर प्रकट किया है। इनके उच्च कोटि का ज्ञानी होने का यही कारण था। ये सरल जीवन के पक्षपाती और अहिंसा के समर्थक थे।

कवि की हैसियत से कबीर को बहुत उच्च स्थान प्राप्त है। इनकी रचना में अलंकारों का आडंबर नहीं। केशव और बिहारी की सी कल्पना की उड़ानें भी नहीं हैं। पर बड़ी मार्मिक बातें, दार्शनिक तत्त्व तथा उपदेश दृष्टान्त आदि के द्वारा बड़ी सरलता से समझाए गए हैं। इनकी प्रतिभा का चमत्कार तथा विचारों की मौलिकता, इनकी सीधी-साधी और भावपूर्ण उक्तियों में दिखाई देती है। इनका उद्देश्य जनता के

नानक का विवाह गुरुदासपुर के एक खत्री श्री मूलचन्द जी की कन्या के साथ हुआ था। इस कन्या का नाम सुलक्षणी था। इसके दो पुत्रों का जन्म हुआ था। एक का नाम श्रीचन्द और दूसरे का नाम लक्ष्मीचन्द था।

श्रीचन्द ने आगे चलकर एक सम्प्रदाय की स्थापना की थी। इसे उदासी सम्प्रदाय के नाम से पुकारा जाता है। नानक की प्रवृत्ति संसार से त्याग की ओर थी। बचपन से ही उन्हें सांसारिक व्यवहारों से चिढ़ बनी हुई थी। उनके पिता ने उन्हे किसी उद्योग में लगाने का प्रयत्न किया था परन्तु नानक की तबियत व्यापार में कहाँ से लग सकती थीं। एक बार व्यापार करने के लिए उनको कुछ पैसा भी दिया गया था परन्तु उन्होंने उसे साधु संतों को लुटा दिया और अपने घर वापस लौट आये। पिता को क्रोध तो आया परन्तु क्या किया जाय! परिवर्तन जीवन में होता ही है। 'मनचेती नहिं होत है प्रभु चेती तत्काल!'' नानक कबीर की तरह मध्यम मार्ग की ओर अग्रसर हो रहे थे। उन्होंने निर्गुण विचारधारा को अपना कर एक ऐसा मत प्रचलित किया जो दोनों हिन्दू और मुसलमान जातियों को मान्य हो सके। नानक ने घर-बार छोड़ दिया था और दूर-दूर तक देशाटन किया था। उपासना के क्षेत्र में उन्होंने सामान्य रूप को ही अपनाया था। नानक को सिख सम्प्रदाय के आदि गुरु मानते हैं। आप न तो कोई भाषा शास्त्री थे और न कोई आचार्य परन्तु एक ऐसे घुमक्कण थे जो अपनी वाणी का प्रसाद जगह्-जगह् बाँटते फिरते थे। आपने शास्त्रों का ज्ञान तो प्राप्त नहीं किया था परन्तु आपमें एक योग्य संत और भक्त की योग्यता अवश्य थी। आपने जो कुछ भी कहा है लोकहित की भावना को ध्यान में रख कर कहा है। आपका लिखा हुआ एक ग्रन्थ 'ग्रन्थ साहब' सिख धर्म का एक धर्मग्रन्थ माना जाता है।

ग्रन्थ साहब में जो भी भजन पाये जाते हैं वे देश की अन्य भाषाओं और पंजाबी भाषा में पाये जाते हैं। हिन्दी का प्रयोग आपने काव्य की दोनों भाषाओं में किया है। ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों को इन्होंने स्थान दिया है। पंजाबी भाषा का पुट भी स्थान-स्थान पर पाया जाता है। नानक के लिए भाषा को पंजाबी भाषा से मुक्त रखना एक कठिन कार्य था। नानक के बड़ी ही सरलता से विनय और भक्ति के भावों को सीधे और सच्चे रूप में प्रकट किया है। कबीर की उलटबाँसियाँ तथा टेढ़े-मेढ़े प्रयोग हमें नानक की कविता में नहीं मिलते। नानक में एक महान् विशेषता थी कि उनमें अहंकार की भावना न थी। आपका स्वभाव बड़ा सरल था और आपका भोलापन आपकी रचनाओं में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। ऐसा माना गया है कि नानक ने जब संन्यास धारण किया तब उनकी भेंट कबीर से हो गई थी। कबीर के उपदेशों का उन पर बड़ा ही सुन्दर प्रभाव पड़ा था। नानक पंजाब के निवासी थे और पंजाब मुसलमानों का प्रधान केन्द्र था। पंजाब में इस्लाम और हिन्दू धर्म के संघर्ष के कारण कभी-कभी अशांति फैल जाया करती थी, उसको दूर करने का प्रयास नानक ने किया था।

काव्य की दृष्टि से नानक की कविता को साधारण प्रकार की कविता ही कहा जा सकता है परन्तु उसमें महान् भाव छिपे हुए हैं। नानक ने भगवान् की भक्ति, साधु संगति, जीवन की क्षणभंगुरता आदि पर अनेक पद कहे हैं—

रे मन राम सों कर प्रीत।
श्रवण गोविन्द गुण सुनो अरु गाउ रसना गीत,
कर साधु संगति सुमिर माधो होय पतित पुनीत।
काल काल ज्यों ग्रस्यो डोलै मुख पसारे मीत,
कहे नानक राम भज ले जात अवसर बीत॥

संत के लक्षण नानक इस प्रकार से बताते हैं—

एक नाम संतन आधारू। होइ रहै सम की पग हारू॥
संत रहत सुनहु मेरे भाई! उआ की महिमा कथणु न जाई॥
बरतणि जाकै केवलु नाम! अनंद रूप कीरतनु बिसराम॥
मित्र सत्रु जाकै एक समानै! प्रभु बिणु अपने अवर न जानै॥
× × × × ×
ताका संग बांछहि सुर देव! अमोघ दरस सफल जाकि सेव॥
कर जोड़ि नानकु करे अरदासि। मोहि संत टहल दीजै गुण तासि॥

नानक की कविता में भक्ति भावना और सरलता दोनों गुण पाये जाते हैं। आपकी काव्य सामग्री में भक्त को तल्लीन करने की भावना तो पाई जाती है परन्तु एक विचारक और साहित्यकार के लिए बराबर सामग्री नहीं मिल पाती। ऐसा माना जाता है कि नानक एक बार घूमते-घूमते मक्का मदीना पहुँच गये थे। वहाँ पर वे काबा की ओर मुँह न करके पैर करके सो गये थे। मुसलमान अपने काबा का इस प्रकार का अपमान सहन न कर सके। उन्होंने नानक की टाँग को पकड़ कर घुमाना शुरू किया परन्तु जिधर-जिधर नानक की टाँग घूमती जाती थी उधर-उधर काबा भी घूमता जाता था। सब मुसलमानों को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और अपने किए हुए अपराध की क्षमा माँगी। इस प्रकार नानक एक महान् चमत्कारिक संत पुरुष थे। आपकी मृत्यु संवत् १५९६ में हुई।

४. दादूदयाल

दादूदयाल का जन्म संवत् १६०१ का था तथा अहमदाबाद में गुजरात में आप पैदा हुए थे। इनकी जाति के विषय में अनेक मत-मतान्तर पाये जाते हैं। एक मत इनको धुनिया बताता है। यह जाति मोची जाति से मिलती हुई है। दूसरा मत इनको गुजराती ब्राह्मण बतलाता है। संभवतः ये नीच जाति के ही थे। कई लोगों का कहना है कि यह लोदी राम नामक ब्राह्मण को साबरमती नदी के अन्दर बहते हुए मिले थे। उस समय ये बालक ही थे और इनको ब्राह्मण ने पाला था। दादू दयाल के गुरु कौन थे यह ठीक तरह से पता नहीं चलता परन्तु इतना अवश्य है कि

साखी

सुख के माथे सिलि परै, (जो) नाम हृदय से जाय।
बलिहारी वा दुक्ख की, पल पल नाम रटाय ॥ १ ॥
माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुवाँ तो दहुँ दिस फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं ॥ २ ॥
आछे दिन पाछे गए, गुरु से किया न हेत।
अब पछतावा क्या करै, चिड़ियाँ चुग गईं खेत ॥ ३ ॥
भक्ति भाव भादों नदी, सबै चलीं घहराय।
सरिता सोई सराहिए, जो जेठ मास ठहराय ॥ ४ ॥
सुखिया सब संसार है, खावै औ सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै औ रोवै ॥ ५ ॥
जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु है हम नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी, ता में दो न समाहिं ॥ ६ ॥
जाति न पूछो साधु की, पूछि लीजिए ज्ञान।
मोल करो तरवार का, पड़ा रहन दो म्यान ॥ ७ ॥

घीव दूध में रमि रह्या व्यापक सब ही ठौर।
दादू बकता बहुत है मथि काढ़ै ते और ।।

इस प्रकार आपकी कविता में भी निर्गुण की भावना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

५. मलूकदास

मलूकदास औरंगजेब के समकालीन निर्गुण भक्त कवि माने जाते हैं।

"अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गये सबके दाता राम ।।"

यह प्रसिद्ध दोहा आपकी रचना है। आपकी भाषा साधारण संत कवियों से अधिक शुद्ध और संस्कृतमय होती थी। आपको छन्दों का भी ज्ञान था। रत्न खान और ज्ञान बोध आपकी दो प्रसिद्ध पुस्तकें पाई जाती हैं। इनमें वैराग्य तथा प्रेम आदि की सुन्दर वाणी व्यक्त की गई है। आपकी मृत्यु १०८ वर्ष की आयु में संवत् १७३९ में हुई। आप कड़ा जिला प्रयाग के निवासी थे। आप एक माने हुए भक्त हैं और राम पर आपका पूरा विश्वास था। आप उनके दर्शन के मद से हमेशा तृप्त रहते हैं।

औरहिं चिन्ता करन दे, तू मत मारे आह।
जाके मोही राम से, ताहि कहा पर वाह ।।

६. सुन्दरदास

जयपुर राज्य में डौसा नामक स्थान पर संवत् १६५३ में संत सुन्दरदास का जन्म हुआ था। सुन्दरदास जाति के बनिए थे। इनकी माता का नाम सती और पिता का नाम परमानन्द था। दादूदयाल एक बार डौसा गये थे तब सुन्दरदास इनसे बहुत प्रसन्न हुए थे। इस समय सुन्दरदास जी की आयु बहुत ही कम थी। तभी से ये दादूदयाल जी के साथ ही रहने लग गये थे। संवत् १६६० में दादूदयाल जी के देहावसान के बाद ये वापस डौसा आये थे। इनके साथ इनके मित्र जगजीवन भी थे। फिर यहाँ से ये अपने मित्र जगजीवन जी के साथ काशी चले गये थे। वहाँ ३० वर्ष तक रहकर इन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया था। यह संस्कृत और फारसी के विद्वान थे। काशी से लौटकर यह राजस्थान में फतहपुर शेखावाटी स्थान पर पहुँच गये। इसी स्थान पर इन्होंने रहना प्रारम्भ कर दिया था। वहाँ के नवाब अलिफ खाँ ने आपका अच्छा सम्मान किया था। सुन्दरदास जी की मृत्यु साँगानेर जयपुर में कार्तिक शुक्ल अष्टमी संवत् १७४६ में हुई थी। सुन्दरदास का शरीर बड़ा ही हृष्ट-पुष्ट था और ये बड़े सुन्दर दिखाई देते थे। इनका गौर वर्ण था। आपका स्वभाव बड़ा सरल था। कोमलता आपका एक गुण था। आप आदित्य ब्रह्मचारी थे। स्त्री सम्पर्क से हमेशा दूर रहा करते थे। निर्गुण पंथ में कई साधु और संत हो चुके हैं उन सब में सुन्दरदास योग्य विद्वान् थे। उन सबसे सुन्दरदास की विद्वता स्पष्ट रूप

केसन कहा बिगारिया, जो मूँड़ो सौ बार।
मन को क्यों नहिं मूँड़िये, जामें विषै विकार॥ १६॥
कबिरा रसरी पाँव में, कह सोवै सुख चैन।
स्वाँस नगारा कूच का, बाजत है दिन रैन॥ २०॥
पीया चाहै प्रेमरस, राखा चाहै प्रान।
एक म्यान में दो खड़्ग, देखा सुना न कान॥ २१॥
सिंहों के लहड़े नहीं, हंसों की नहिं पाँत।
लालों की नहिं बोरियाँ, साधु न चलैं जमात॥ २२॥
नाँव न जानों गाँव का, बिन जाने कित जाँव।
चलता-चलता जुग भया, पाव कोस पर गाँव॥ २३॥
कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूंढ़ै बन माहिं।
ऐसे घट में पीव हैं, दुनिया जानै नाहिं॥ २४॥
पतिबरता को सुख घना, जाके पति है एक।
मन-मैली बिभचारिनी, ताके खसम अनेक॥ २५॥
पतिबरता पति को भजै, और न आन सुहाय।
सिंह बचा जो लाँघना, तौ भी घास न खाय॥ २६॥
मधुर बचन है औसधी, कटुक बचन है तीर।
स्त्रवन द्वार ह्वै संचरै, सालै सकल सरीर॥ २७॥
हरी भया तो क्या भया, करता-धरता होय।
साधू ऐसा चाहिए, जो हरि भजि निर्मल होय॥ २८॥
काँकर-पाथर जोरि कै, मसजिद लिया बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, बहिरा हुआ खुदाय॥ २६॥

चातक सुतहि पढ़ावही, और नीर मत लेय।
मम कुल यही स्वभाव है, स्वातिबुन्द चित देय ॥ ३० ॥
गाँठी दाम न बाँधई, नहिं नारी सों नेह।
कह कबीर ता साधु की, हम चरनन की खेह ॥ ३१ ॥
कोई आवै भाव लै, कोई आव अभाव।
साधु दोऊ को पोषते, गिनैं न भाव-अभाव ॥ ३२ ॥
हरि दरिया सूभर भरा, साधों का घर सीप।
तामैं मोती नीपजै, चढ़ै दिसावर दीप ॥ ३३ ॥
चंदन की कुटकी भली, नहिं बबूल लखराँव।
साधन की झुपड़ी भली, ना साकट को गाँव ॥ ३४ ॥
हद चलै सो मानवा, बेहद चलै सो साध।
हद-बेहद दोनों तजै, ताको मता अगाध ॥ ३५ ॥
संगति भई तो क्या भया, हिरदा भया कठोर।
नौ नेजा पानी चढ़ै, तऊ न भीजै कोर ॥ ३६ ॥
कबिरा मूढ़क प्रानियाँ, नख सिख पाखर आहि।
बाहन हारा क्या करै बान न लागै ताहि ॥ ३७ ॥
कबिरा चंदन के निकट, नीम भी चंदन होय।
बूड़े बाँस बड़ाइया, यों जनि बूड़ो कोय ॥ ३८ ॥
हम जाना तुम मगन हौ, रहे प्रेमरस पागि।
रंचक पवन के लागते, उठे नाग से जागि ॥ ३९ ॥
लोहे केरी नावरी, पाहन गरुवा भार।
सिर में विष की पोटरी, उतरन चाहै पार ॥ ४० ॥

अनराते सुख सोवना, राते नींद न आय।
ज्यों जल छूटे माछरी, तलफत रैन बिहाय ॥ ४१ ॥

पद

रस गगन गुफा में अजर झरै।
बिन बाजा झनकार उठै जहँ समुझि परै जब ध्यान धरै ॥
बिना ताल जहँ कँवल फुलाने तिहि चढ़ि हंसा केलि करै।
बिन चंदा उँजियारी दरसै जहँ तहँ हंसा नजर परै ॥
दसवें द्वारे ताड़ी लागी अलख पुरुष जाको ध्यान धरै।
काल कराल निकट नहिं आवै काम, क्रोध, मद, लोभ जरै ॥
जुगन-जुगन की तृषा बुझानी, कर्म भरम अघ व्याधि टरै।
कहैं कबीर सुनो भइ साधो अमर होय कबहूँ न मरै ॥ ४२ ॥

मुरशिद नैनों बीच नबी है।
स्याह सपेद तिला बिच तारा अबिगत अलख रबी है ॥
आँखी मद्धे पाँखी चमकै पाँखी मद्धे द्वारा।
तेहि द्वारे दुरबीन लगावे उतरे भौ जल पारा ॥
सुन्न सहर में बास हमारा तहँ सरबंगी जावै।
साहब कबीर सदा के संगी शब्द महल लै आवै ॥ ४३ ॥

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे कै ताना काहे कै भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया।

इंगला पिंगला ताना भरनी, सुखमन तार से बीनी चदरिया।
आठ कँवल दल चरखा डोलै, पाँच तत्त गुन तीनी चदरिया।
साईं को सियत मास दस लागै, ठोक ठोक कै बीनी चदरिया।
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी, ओढ़ि के मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया ॥४४॥

⁂ ⁂

सूरदास

सूरदास

पन्द्रहवीं सदी के आरम्भ में जिस भक्ति का विकास हुआ, उसके दो रूप दिखाई देते हैं—कृष्ण की भक्ति और राम की भक्ति। इन दोनों प्रकार की भक्तियों की अपनी विशेषतायें थीं। अतः रुचि की भिन्नता के कारण किसी ने राम-भक्ति को और किसी ने कृष्ण-भक्ति को ग्रहण किया। राम-पूजा में शान्ति थी, तो कृष्ण-पूजा में आनन्द। राम आदर्श के अवतार थे, तो कृष्ण सांसारिक प्रमोद और प्रेम के। राम और कृष्ण की भक्ति के प्रचार से हिन्दी के प्रचार में बड़ी सहायता मिली। एक - रामानन्द-सम्प्रदाय के अनुसार तुलसीदास ने राम की उपासना प्रचार करके साहित्य की श्रीवृद्धि की, तो दूसरी ओर वल्लभ सम्प्रदाय के भक्तों ने—विशेषकर सूरदास ने—कृष्ण-भक्ति के प्रचार के द्वारा व्रज-भाषा को विकसित करके उसे साहित्यिक रूप दिया। अतः यह काल हिन्दी की समृद्धि का युग था।

सूर और तुलसी इस युग के प्रतिनिधि कवि हैं।

सूर के जन्म-समय, वंश तथा जीवन की कुछ घटनाओं के विषय में [illegible] न नहीं।

[illegible] से इनका जन्म सं० १५४० में और [illegible] सं० १६२० में माना जाता है। [illegible] लोग इन्हें [illegible] त ब्राह्मण और अन्य लोग चन्द-

बरदाई का वंशज मानते हैं। इनके अन्धे होने के बारे में जो प्रवाद प्रचलित है, वह मिथ्या मालूम होता है। ये जन्म के अन्धे न थे। इन्होंने प्रकृति का, रूप-रंग का, मानव-चेष्टाओं का जो वर्णन किया है, वह जन्मान्ध नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए नीचे दिए हुए पद में पनिहारिनों की चेष्टाओं का वर्णन बिना सूक्ष्म-निरीक्षण के असंभव है:—

नागरि गागरि लिए पनिघट ते घरहिं आवै।
ग्रीवा डोलत, लोचन लोलत, हरि के चितहिं चुरावै॥
ठठकति चलै, मटकि मुँह मोरै, वंकट भौंह चलावै।
... ... ॥

ये महाप्रभु वल्लभाचार्य के सर्व-प्रधान शिष्य थे। उन्हीं की आज्ञा से आप ने भागवतपुराण की कथा को पदों में गाया। यह ग्रन्थ—'सूर-सागर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसकी पद-संख्या सवा लाख मानी जाती है, पर अभी तक लगभग ६ हजार पद ही मिल सके हैं। इन पदों में भागवत के दशम स्कन्ध की कथा विस्तारपूर्वक कही गई है। शेष स्कन्धों की कथा बहुत संक्षेप से थोड़े से पदों में कह दी गई है।

सूर-सागर में कृष्ण-जन्म से लेकर कृष्ण के मथुरा जाने तक की कथा बहुत विस्तार से गाई गई है। पर पदों के क्रम और विषय को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रन्थ कथा कहने की प्रवृत्ति से नहीं रचा गया है। कथानक के अनुसार पदों का क्रम नहीं है। कहीं कहीं वही विषय भिन्न भिन्न पदों में है। भक्ति भाव से प्रेरित होकर जो भाव सूर के हृदय में उठे उन्हीं को उन्होंने पदों में प्रकट किया है।

प्रत्येक पद स्वतः पूर्ण है। ये पद मुक्तक के रूप में हैं। सभी पद गेय हैं। अतः सूर-सागर को हम गीत-काव्य कह सकते हैं।

तुलसी की अपेक्षा सूर का काव्य-क्षेत्र संकुचित है। तुलसी के राम-चरित्र में मानव-जीवन की प्रत्येक परिस्थिति का समावेश है। सूर के कृष्ण-चरित्र में यह व्यापकता नहीं। तब भी शृंगार और वात्सल्य रस की रचनाएँ तुलसी की तद्विषयक रचनाओं से बढ़कर हैं।

बाल-लीला का इतना स्वाभाविक चित्र अन्यत्र दुर्लभ है। विप्रलंभशृंगारात्मक गोपी-विरह का वर्णन और उद्धव के प्रति गोपियों की सुन्दर कटूक्तियाँ बहुत ही मर्मस्पर्शिनी हैं। ऐसा रोचक उपालंभ अन्यत्र नहीं मिलता। यह अंश 'भ्रमरगीत' के नाम से प्रसिद्ध है।

सूरदास ने रामचरित संबन्धी भी कुछ पद रचे हैं। पर वे उसी प्रकार के हैं जैसे तुलसी के कृष्ण-चरित-संबन्धी पद, अर्थात् उनमें वह रोचकता नहीं है जो सूर के कृष्ण-संबन्धी पदों में और तुलसी के राम-संबन्धी पदों में है।

सूर-सागर की रचना विशुद्ध व्रजभाषा में हुई है और व्रजभाषा का यह सर्व श्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसमें अनेक वैदेशिक शब्द जैसे 'मसकत' (फ़ा॰ मशक्कत), मुहकम, "आयो बाज", 'हवस' इत्यादि भी प्रयुक्त हुए हैं। इनके अन्य ग्रन्थ, सूर-सारावली, साहित्य-लहरी, ब्याहलो (अप्राप्य) और नल-दमयन्ती (अप्राप्य) हैं।

विनय ।

पद बिलावल ।

चरन-कमल बंदौं हरि राई ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे कों सब कछु दरसाई ॥
बहिरौ सुनै, मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई ॥
सूरदास स्वामी करुनामय, बार बार बंदौं तेहि पाई ॥ १ ॥

धनाश्री

प्रभु, मेरे औगुन न बिचारौ ।
धरि जिय लाज सरन आये की, रवि-सुत त्रास निबारौ ॥
जो गिरिपति मसि घोरि उदधि में लै सुरतरु निज हाथ ।
ममकृत दोष लिखैं बसुधा भरि तऊ नहीं मिति नाथ ॥
कपटी कुटिल कुचालि, कुदरसन, अपराधी मतिहीन ।
तुमहिं समान और नहिं दूजो जाहिं भजौं है दीन ॥
जोग जग्य जप तप नहिं कीन्हौं, बेद बिमल नहिं भाख्यो ।

अति रस-लुब्ध स्वान जूठनि ज्यौं अनतै हीं मन राख्यौ ॥
जिहिं-जिहिं जोनि फिरौं संकट बस, तिहि तिहि यहै कमायो ।
काम-क्रोध-मद-लोभ-ग्रसित ह्वै बिषै परमबिष खायो ॥
अखिल अनंत दयालु दयानिधि अघमोचन सुखरासि ।
भजन-प्रताप नाहिंनै जान्यौं, बँध्यौ काल की फांसि ॥
तुम सर्वग्य सबै बिधि समरथ, असरन-सरन मुरारि ।
मोह-समुद्र सूर बूड़त है, लीजै भुजा पसारि ॥ २ ॥

सारंग

प्रभु, हौं सब पतितन कौ राजा ।
पर-निंदामुखपूरि रह्यौ जग, यह निसान निज बाजा ॥
तृष्णा देस रु सुभट मनोरथ, इंद्रिय खडग हमारे ।
मंत्री काम कुमत दैबे कौं, क्रोध रहत प्रतिहारे ॥
गज अहँकार चढ़्यौ दिग-बिजयी, लोभ छत्र धरि सीस ।
फौज असत संगति की मेरी, ऐसो हौं मैं ईस ।
मोह मदै बंदी गुन गावत, मागध दोष अपार ।
सूर, पाप कौ गढ़ दृढ कीने, मुहकम लाय किंवार ॥ ३ ॥

धनाश्री

अब हौं नाच्यौ बहुत गुपाल ।
काम-क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ बिषय की माल ॥
महामोह के नूपुर बाजत, निन्दा सब्द रसाल ।
भरम-भरयौ मन भयौ पखावज, चलत कुसंगति-चाल ॥

तृसना नाद करति घट अन्तर, नानाबिध दै ताल ।
माया कौ कटि फैंटा बाँध्यौ, लोभ तिलक दियो भाल ।।
कोटिक कला काछि दिखराई, जल थल सुधि नहिं काल ।
सूरदास की सबै अविद्या, दूरि करौ नँदलाल ।। ४ ।।

केदारा

बिनती सुनौ दीन की चित्त दै, कैसे तव गुन गावै ।
माया-नटिनि लकुटि कर लीनें कोटिक नाच नचावै ।।
लोभ लागि लै डोलति दरदर, नाना स्वाँग करावै ।
तुमसों कपट करावति प्रभुजी, मेरी बुद्धि भ्रमावै ।।
मन अभिलाष तरंगनि करि करि मिथ्या निसा जगावै ।
सोवत सपने में ज्यों संपति त्यौं दिखाय बौरावै ।।
मेरे तौ तुम हीं पति, तुम गति, तुम समान को पावै ।
सूरदास प्रभु तुम्हरी कृपा बिनु को मो दुखनि सिरावै ।। ५ ।।

नट

जौं लौं सत्य स्वरूप न सूझत ।
तौलौं मनु मनि कंठ बिसारैं फिरतु सकल बन बूझत ।।
अपनौ हीं मुख मलिन मंदमति देखत दरपन माहिं ।
ता कालिमा मेटिबे कारन पचतु पखारतु छाहिं ।।
तेल तूल पावक पुट भरि धरि बनै न दिया प्रकासत ।

कहत बनाय दीप की बातैं, कैसे कैं तम नासत ॥
सूरदास, जब यह मति आई, वे दिन गये अलेखे ।
कह जानै दिनकर की महिमा अंध नयन बिनु देखे ॥ ६ ॥

देवगंधार

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै ।
जैसे उड़ि जहाज कौ पंछी पुनि जहाज पै आवै ॥
कमल-नैन कौ छाँड़ि महातम और देव को ध्यावै ।
परमगंग कों छाँड़ि पियासौ दुर्मति कूप खनावै ॥
जिन मधुकर अंबुज-रस चाख्यौ, क्यों करील-फल खावै ।
सूरदास, प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै ॥ ७ ॥

नट

प्रभु, मेरे औगुन चित न धरौ ।
समदरसी प्रभु नाम तिहारो, अपने पनहिं करौ ।
इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परौ ॥
यह दुविधा पारस नहिं जानत, कंचन करत खरौ ।
इक नदिया इक नार कहावत, मैलो नीर भरौ ॥
जब मिलिकैं दोउ एक बरन भये, सुरसरि-नाम परौ ॥
एक जीव इक ब्रह्म कहावत, सूरस्याम, झगरौ ।
अब की बेर मोहिं पार उतारौ, नहिं पन जात टरौ ॥ ८ ॥

सारंग

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जेहिं तनु दियौ ताहिं बिसरायौ, ऐसो नौनहरामी ॥
भरि-भरि उदर बिषय को धावौं, जैसें सूकर ग्रामी।
हरिजन छाँड़ि हरी-बिमुखन की, निसि-दिन करत गुलामी ॥
पापी कौन बड़ौ है मोतें, सब पतितन में नामी।
सूर, पतित कों ठौर कहाँ है, सुनिए श्रीपति स्वामी ॥ ९ ॥

सारंग

जापर दीनानाथ ढरै।
सोइ कुलीन, बड़ौ सुंदर सोइ, जिहिं पर कृपा करै ॥
राजा कौन बड़ौ रावन तें, गर्बहिं-गर्ब गरै।
कौन बिभीषन रंक निसाचर, हरि हँसि छत्र धरै ॥
रंकव कौन सुदामाहू तें, आपु समान करै।
अधम कौन है अजामील तें, जम तहँ जात डरै ॥
कौन बिरक्त अधिक नारद तें, निसि-दिन भ्रमत फिरै।
अधिक कुरूप कौन कुबिजा तें, हरि पति पाइ तरै ॥
अधिक सुरूप कौन सीता तें, जनम बियोग भरै ॥ १० ॥

बिहाग

भजु मन चरन संकट-हरन।
सनक, संकर ध्यान लावत, सहज असरन-सरन
सेस,सारद, कहैं नारद संत-चिंतित चरन।

पद-पराग-प्रताप दुर्लभ रमा के हित-करन ॥
परसि गंगा भई पावन तिहूँ पुर-उद्धरन ।
चित्त चेतन करत, अंतसकरन-तारन-तरन ॥
गये तरि लै नाम केते संत हरिपुर-धरन ।
प्रगट महिमा कहत बनति न गोपि-उर-आभरन ॥
जासु सुचि मकरंद पीवत मिटति जिय की जरन ।
सूर, प्रभु चरनारबिंद तें नसै जन्म रु मरन ॥ ११ ॥

धनाश्री

तेऊ चाहत कृपा तुम्हारी ।
जिहि के बस अनिमिख अनेक गन अनुचर आज्ञाकारी ॥
प्रवहत पवन, भ्रमत दिनकर दिन फनिपति सिर न डुलावै ।
दाहक गुन तजि सकत न पावक, सिंधु न सलिल बढ़ावै ॥
सिव बिरंचि सुरपति समेत सब, सेवत पद प्रभु जाने ।
जो कछु कहत करत सोइ कीजतु, कहियतु अति अकुलाने ॥
तुम अनादि अविगत अनंत, गुन पूरन परमानन्द ।
सूरदास पर कृपा करौ प्रभु, श्री बृन्दाबनचन्द ॥ १२ ॥

विलास

कर गहि पग अँगुठा मुख मेलत ।
प्रभु पौढ़े पालने अकेले हरषि-हरषि अपने रँग खेलत ॥
सिव सोचत बिधि बुद्धि बिचारत, बट बाढ़्यो सागरजल झेलत ।
बिड़रि चले घन प्रलय जानिकै, दिगपति दिगदंतियन सकेलत ॥

मुनिमन भीत भए भव कम्पित, सेष सकुचि सहसौ फन फैलत ।
उन ब्रजबासिन बात न जानी, समुझे 'सूर' सकट पगु पेलत ॥१३॥

बिहार

जसोदा मदन गुपाल सुवावै ।
देखि सपन गति त्रिभुवन कंप्यौ, ईस बिरंचि भ्रमावै ।
असित अरुन सित आलस लोचन, उभै पलक पर आवै ।
जनु रविगत संकुचित कमल जुग, निसि अलि उड़न न पावै ॥
चौंकि-चौंकि सिसु दसा प्रकट करै, छबि मन में नहीं आवै ।
जानौं निसिपति धरि कर अमृत, छिति भंडार भरावै ॥१४॥

नट

खेलत स्याम आपने रंग ।
नंदलाल निहारि सोभा निरखि थकित अनंग ॥
चरन की छबि निरखि डरप्यौ अरुन गगन छपाइ ।
जनु रमा की सबै छबि तेहि निदरि लई छिड़ाइ ॥
जुगल जंघनि खम्भ रम्भा नहिन समसरि ताहि ।
कटि निरखि केहरि लजाने, रहे घन बन चाहि ॥
हृदय हरिनख अति बिराजत छबि न बरनी जाइ ।
मनहुँ बालक बारिधर नवचन्द्र लियो छपाइ ॥
मुकुतमाल बिसाल उर पर कछु कहौं उपमाइ ।
मनो तारागन नभोदि नभ रहे दरसाइ ॥
अधर अरुन अनूप नासा निरखि जन सुखदाइ ।

मनौं सुक फलबिंब कारन लेन बैठो आइ ।।
कुटिल अलक बिन्दा बिपिन के मनौं अलि सिसु जाल ।
"सूर" प्रभु की ललित सोभा निरखि रहीं बृजबाल ।।१५।।

कान्हरा

अविगत गति कछु कहत न आवै ।
ज्यों गूँगेहि मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै ।।
परम स्वाद सब ही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै ।
मन बानी को अगम अगोचर सो जानै जो पावै ।।
रूप रेख गुन जाति जुगुति बिनु निरालम्ब मन चकृत धावै ।
सब बिधि अगम बिचारहिं तातें 'सूर' सगुनलीला पद गावै ।।१६।।

नट

राजत रोमराजी रेष ।
नील घन मनु धूम धारा रही सुच्छम सेष ।
निरखि सुन्दर हृदय पर भृगुलात परम सुलेष ।।
मनहुँ सोभित अभ्रअंतर संभु भूषन भेष ।।
मुक्तमाल नक्षत्रगन सम अर्ध चन्द्र विसेष ।
सजल उज्ज्वल जलद मलयज प्रबल बलनि अलेष ।।
केकि-कच-सुर-चाप की छबि दसन तड़ित सुवेष ।
'सूर' प्रभु अवलोकि आतुर तजे नैन निमेष ।।१७।।

धनाश्री

माधव मन मरजाद तजी ।
ज्यों गज मत्त जानि हरि तुमसों बात बिचारि सजी ।।
माथे नहीं महाउत सतगुरु अंकुस ग्यान टुट्यौ ।
धावै अघ अवनी अति आतुर साँकर सुसँग छुट्यौ ।।
इन्द्री जूथ संग लिए बिहरत तृस्ना कानन माहे ।
क्रोध सोच जल सों रति मानी काम भच्छ हित जाहे ।
और अधार नाहिं कछु सकुचत भ्रम गहि गुहा रहे ।
'सूर' स्याम केहरि करुनामय कब नहिं बिरद गहे ।। १८ ।।

धनाश्री

जसोदा हरि पालने झुलावै ।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै ।।
मेरे लाल कों आउ निंदरिया, काहे न आनि सुवावै ।
तू काहे नहिं बेगिहिं आवै, तोकों कान्ह बुलावै ।।
कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै ।
सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि, करि-करि सैन बतावै ।।
इहिं अंतर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरै गावै ।
जो सुख सूर, अमर-मुनि-दुरलभ, सो नंद-भामिनि पावै ।।१।।

धनाश्री

कहाँ लौं बरनौं सुंदरताई ।
खेलत कुंवर कनक-आँगन में, नैन निरखि छवि छाई ॥
कुलहि लसति सिर स्याम सुभग अति बहुविधि सुरँग बनाई ।
मानों नव घन ऊपर राजत मघवा-धनुष चढ़ाई ॥
अति सुदेस मृदु चिकुर हरत मन मोहन मुख बगराई ।
मानों प्रगट कंज पर मंजुल अलि-अवली-फिरि आई ।
नील सेत पर पीत लालमनि लटकन भाल लुनाई ।
सनि गुरु-असुर देव-गुरु मिलि मनों भौम सहित समुदाई ॥
दूध-दंत-दुति कहि न जाति अति अद्भुत इक उपमाई ।
किलकत हँसत दुरत प्रगटत मनु घन में बिज्जु छपाई ॥
खंडित बचन देत पूरन सुख अलप-अलप जलपाई ।
घुटुरुन चलत रेनु तन मंडित सूरदास बलि जाई ॥ २ ॥

रामकली

मैया, कबहिं बढ़ैगी चोटी ।
किती बार मोहिं दूध पिवत भई, यह अजहूँ है छोटी ॥
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी ।
काढत गुहत न्हवावत ओंछत नागिनि-सी भुँइ लोटी ॥
काचो दूध पिवावति पचि-पचि, देति न माखन-रोटी ।
सूर, स्याम चिरजीवौ दोउ भैया, हरि-हलधर की जोटी ॥ ३ ॥

बिलावल

जागिए ब्रजराज-कुंवर कमल कुसुम फूले।
कुमुद-बृंद सकुचित भये, भृंग लता भूले॥
तमचुर खग रौर सुनहु, बोलत बनराई।
राँभति गौ खरिकन में बछरा-हित धाई॥
बिधु मलीन रवि-प्रकास, गावत नर-नारी।
सूर, स्याम प्रात उठौ, अंबुज करधारी॥ ४॥

रामकली

प्रात समय उठि सोवत हरि कौ बदन उघार्यौ मंद।
रहि न सकत, देखन कों आतुर नैन निसा के द्वंद॥
स्वच्छ सेज में तें मुख निकसत गयौ तिमिर मिटि मंद।
मानों मथि पय-सिंधु फेन फटि दरस दिखायौ चंद॥
धायौ चतुर चकोर सूर सुनि सब सखि सखा सुछंद।
रही न सुधिहुँ सरीर धीर मति पिवत किरन-मकरंद॥ ५॥

बिलावल

आजु बनें बन तें ब्रज आवत।
रंग सुरंग सुमन की माला, नँद-नंदन उर पर छबि पावत॥
ग्वाल-बाल गोधन सँग लीनें, नाना गति कौतुक उपजावत।
कोऊ गावत,कोऊ नृत्य करत,कोऊ उघटत,कोऊ ताल बजावत॥
राँभति गाय बच्छ हित सुधि करि प्रेम-उमँगि थन दूध चुवावत।
जसुमति बोलि उठी हरषित ह्वै 'कान्हा धेनु चराये आवत'॥

इतनी कहत आय गये मोहन, जननी दौरि हियें लै लावत ।
सूर,स्याम के कृत जसुमति सों ग्वाल बाल कहि प्रगट सुनावत ॥६॥

कल्याण

धनि यह बृंदावन की रेनु ।
नंदकिसोर चराईं गैयाँ, बिहरि बजाई बेनु ॥
मनमोहन कौ ध्यान धरै जो अति सुख पावत चेनु ।
चलत कहाँ मन, बसहि सनातन जहाँ लेन नहिं देनु ॥
यहाँ रहौ जहँ जूठन पावैं ब्रजबासी के ऐनु ।
सूरदास, ह्याँ की सरबरि नहिं, कल्पबृच्छ सुरधेनु ॥ ७ ॥

मुरली-माधुरी

सारंग

देखि री, देखि मोहन ओर ।
स्याम सुभग सरोज आनन चारु चित के चोर ॥
नीलतनु मनु जलद की छबि मुरलि-सुर घनघोर ।
दसन दामिनि लसति बसननि चितवनी झकझोर ॥
स्रवन कुंडल गंड-मंडल उदित ज्यों रवि भोर ।
बरहि-मुकुट बिसाल माला इंद्र-धनु छबि थोर ॥
धातु-चित्रित वेष नटवर मुदित नवलकिसोर ॥
सूर स्याम सुभाइ आतुर चितै लोचन-कोर ॥ १ ॥

बिहाग

नटवर वेष काछे स्याम।
पद कमल-नख-इंदु सोभा ध्यान पूरन काम॥
जानु जंघ सुघट निकाई
पीतपट काछनी मानहुँ जलज-केसरि झूल॥
कनक-छुद्रावली पंगति नाभि कटि के भीर।
मनहुँ हंस रसाल पंगति रही है ह्रद-तीर॥
झलक रोमावली सोभा, ग्रीव मोतिन हार।
मनहुँ गंगा बीच जमुना चली मिलिकैं धार॥
बाहुदंड बिसाल तट दोउ अंग चंदन-रेनु।
तीर तरु बनमाल की छवि ब्रजजुवति-सुखदेनु॥
चिबुक पर अधरनि दसन-दुति बिंब बीजु लजाइ।
नासिका सुक नयन खंजन कहत कवि सरमाइ॥
स्रवन कुंडल कोटि रवि-छवि भृकुटि काम-कोदंड।
सूर प्रभु हैं नीप के तर सिर धरैं सीखंड॥ २॥

कल्याण

जब हरि मुरली नाद प्रकास्यौ।
जंगम जड़, थावर चर कीन्हें, पाहन जलज बिकास्यौ॥
स्वर्ग पताल दसौ दिसि पूरन धुनि आच्छादित कीन्हों।
निसिबर कल्प-समान बढाई, गोपिन को सुख दीन्हों॥

मत्त भये जीवी जलथल के, तनु की सुधि न सँभार ।
सूर, स्याम-मुख-बेनु मधुर सुनि उलटे सब व्यवहार ।। ३ ।।

पूर्वी

मुरली गति बिपरीत कराई ।
तिहूँ भुवन भरि नाद समान्यौ राधारमन बजाई ।।
बछरा थन नाहीं मुख परसत, चरत नहीं तृन धेनु ।
जमुना उलटी धार चली बहि, पवन थकित सुनि बेनु ।।
बिह्वल भये नाहिं सुधि काहू, सुर-गंध्रब नर-नारि ।
सूरदास, सब चकित जहाँ-तहाँ ब्रज-जुवतिन-सुखकारि ।। ४ ।।

केदारा

मुरली तप कियौ तनु गारि ।
नैकहूँ नहिं अँग मुरकी जब सुलाखी जारि ।।
सरद ग्रीषम प्रबल पावस खरी इक पग भारि ।
कटतहूँ नहिं अंग मोर्‌यौ साहसिनि अति नारि ।।
रिझै लीन्हें स्यामसुंदर देति हौ कत गारि ।
सूर, प्रभु तब ढरे हैं री गुननि कीन्हीं प्यारि ।। ५ ।।

सारंग

बंसी बन कान्ह बजावत ।
आइ सुनो स्रवननि मधुरे सुर रागरागिनी ल्यावत ।।
सुर, श्रुति, ताल, बँधान अमित अति, सप्त अतीत अनागत आवत ।
जनु जुग कर वरवेष साधि मथि बदनपयोधि अमृत उपजावत ।।

मनो मोहनी भेष धरे हरि मुरली मोहन मुख मधु प्यावत ।
सुर नर मुनि बस किये राग रस अधर सुधारस मदन जगावत ॥
महामनोहर नाद 'सूर' थिर चर मोहे मिलि मरम न पावत ।
मानहु मूक मिठाई के गुन कहि ना सकत मुख, सीस डुलावत ॥ ६ ॥

मलार

मुरली तऊ गोपालहिं भावति ।
सुन री सखी जदपि नँदनंदहिं नाना भाँति नचावति ॥
राखति एक पायँ ठाढो करि अति अधिकार जनावति ।
कोमल अंग आपु आज्ञा गुरु कटि टेढ़ी ह्वै जावति ॥
अति आधीन सुजान कनौड़े गिरधर नारि नवावति ।
आपुन पौढ़ि अधर सेज्या पर कर पल्लव सन पद पलुटावति ॥
भृकुटी कुटिल फरक नासा पुट हम पर कोपि कपावति ।
'सूर' प्रसन्न जानि एकौ छिन अधर सु सीस डुलावति ॥७॥

मलार

जब मोहन मुरली अधर धरी ।
गृह व्यवहार थके आरज-पथ तजत न संक करी ॥
पदरिपु पट अटक्यो आतुर ज्यों उलटि पलटि उबरी ।
सिवसुत बाहन आय पुकारो मन चित बुद्धि हरी ॥
दुरि गये कीर, कपोत, मधुप, पिक, सारँग सुधि बिसरी ।
उड़पति, बिद्रुम, बिम्ब खिसान्यो दामिनि अधिक डरी ॥
निरखे स्याम पतंग सुता तट आनँद उमँग भरी ।
'सूरदास' प्रभु प्रीति परसपर प्रेम प्रबाह परी ॥ ८ ॥

विरह

सोरठ

जसोदा कान्ह कै बूझै
फूटि न गईं तिहारी चारौ, कैसे मारग सूझै ॥
इक तनु जरो जात बिन देखे, अब तुम दीनों फूँक ।
यह छतियाँ मेरे कुँवर कान्ह बिनु फटि न गई द्वै टूक ॥
धिग तुम, धिग ये चरन अहो पति, अध बोलत उठि धाय ।
सूर, स्याम-बिछुरन की हम पै देन बधाई आये ॥१॥

सोरठ

मेरौ कान्ह कमलदल-लोचन ।
अब की बेर बहुरि फिरि आवहु , कहा लगे जिय सोचन ॥
यह लालसा होति हिय मेरे, बैठी देखति रैहौं ।
गाइ-चरावन कान्ह कुँवर सों भूलि न कबहूँ कैहौं ॥
करत अन्याय न कबहुँ बरजिहौं, अरु माखन की चोरी ।
अपने जियत नैन भरि देखौं हरि-हलधर की जोरी ॥
एक बेर ह्वैजाहु यहाँ लौं, मेरे ललन कन्हैया ।
चारि दिवसहीं पहुनई कीजौ तलफति तेरी मैया ॥२॥

देश

जोग-ठगौरी ब्रज न बिकैहै ।
यह ब्यौपार तिहारो ऊधौ, ऐसोई फिरि जैहै ॥

जापै लै आये हौ मधुकर, ताके उर न समैहै।
दाख छाँडि कैं कटुक निबौरी को अपने मुख खैहै॥
मूरी के पातन के केना को मुकताहल दैहै।
सूरदास, प्रभु गुनहिं छाँडिकैं को निर्गुन निरबैहै॥ ३

काफी

निरगुन कौन देस कौ बासी।
मधुकर, कहि समुझाइ, सौंह दै बूझति साँच न हाँसी॥
को है जनक, जननि को कहियत कौन नारि को दासी।
कैसो बरन, भेष है कैसो, केहि रस में अभिलाषी॥
पावैगो पुनि कियौ आपनो ,जो रे कहैगो गाँसी।
सुनत मौन ह्वै रह्यौ ठगो-सौ सूर सबै मति नासी॥ ४॥

मलार

ऊधौ, इतनी कहियौ जाइ।
अति कृसगात भई ये तुम बिनु परम दुखारी गाइ॥
जल-समूह बरषतिं दोउ आँखनि, हूँकतिं लीनें नाउँ।
जहाँ-जहाँ गो-दोहन कीनौ सूँघतिं सोई ठाउँ॥
परतिं पछार खाइ छिन-हीं छिन अति आतुर ह्वै दीन।
मानहुँ सूर काढि डारी हैं बारि मध्य तें मीन॥ ५॥

सोरठ

ऊधौ, मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
हंस-सुता की सुन्दर कगरी अरु कुञ्जन की छाहीं॥

वे सुरभीं, वे बच्छ, दोहिनी खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल बाल सब करत कुलाहल नाचत गहि-गहि बाहीं॥
यह मथुरा कंचन की नगरी मनि मुकताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की जिय उमगत तनु नाहीं॥
अनगन भाँति करी बहुलीला जसुदा नंद निबाहीं।
सूरदास, प्रभु रहे मौन ह्वै यह कहि-कहि पछिताहीं॥ ६॥

धनाश्री

नैना भये अनाथ हमारे।
मदनगोपाल वहाँ तें सजनी, सुनियत दूरि सिधारे॥
हैं जल हरि हम मीन बापुरीं, कैसे जिवहिं निनारे।
हम चातकि चकोरि घन स्यामल बदन सुधानिधि प्यारे॥
मधुबन बसत आस दरसन की जोइ नैन मग हारे।
सूरदास, कीन्हीं अब ऐसी मृतकहुँ तें पुनि मारे॥ ७॥

सारंग

प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।
प्रीति पतंग करी दीपक सों, आपै देह दह्यौ॥
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सों, संपुट माँझ गह्यौ।
सारँग प्रीति जो करी नाद सों, सनमुख बान सह्यौ।
हम जो प्रीति करी माधव सों, चलत न कछू कह्यौ।
सूरदास, प्रभु बिनु दुख-पावतिं नैननि नीर बह्यौ॥ ८॥

धनाश्री

तेरो बुरो न कोऊ मानै।
रस की बात मधुप नीरस सुन, रसिक होत सो जानै॥
दादुर बसै निकट कमलनि के जनम न रस पहिचानै।
अलि अनुराग उड़न मन बाँध्यो कहौ सुनत नहिं कानै॥
सरिता चलै मिलन सागर को कूल मूल द्रुम भानै।
कायर बकै लोह तें भाजै, लरै सो 'सूर' बखानै॥ ६॥

धनाश्री

रहि रे मधुकर! मधु मतवारे।
कहा करौं निरगुन लैकैहौं, जीवहिं कान्ह हमारे॥
तुम जानत हमहूँ वैसी हैं जैसे कुसुम तिहारे।
घरी पहर सबको बिलमावत जेते आवत कारे॥
सुन्दर स्याम कमलदल लोचन जसुमति नन्ददुलारे।
'सूर' स्याम कौं सर्वसु अर्प्यौं, अब कापै हम लेहिं उधारे॥ १०॥

मलार

सँदेसनि मधुबन कूप भरे।
जो कोई पथिक गये हैं ह्याँ ते फिरि नहिं अवन करे॥
कै वे स्याम सिखाय समोधे कै वे बीच मरे।
अपनो नहिं पठवत नँदनंदन हमरेउ फेरि धरे॥
मसि खूँटी, कागद जल भीजे, सर दौ लागि जरे।
पाती लिखैं कहो क्योंकर जो पलक कपाट अरे॥ ११॥

सारंग

लखियत कालिंदी अति कारी ।
कहियो पथिक जाय हरि सों ज्यों भई बिरह-जुर-जारी ॥
मनु पलका पै परी धरनि धँसि तरँग तलफ तनु भारी ।
तट बारू उपचार चूर मनो स्वेद प्रवाह पनारी ॥
बिगलित कच कुस कास पुलिन मनो पंकज कज्जल सारी ।
पकरि मनो मति भ्रमति चहूँदिसि फिरति हैं अंग दुखारी ॥
निस दिन चकई ब्याज बकत मुख, किन मानस अनुहारी ।
'सूरदास' प्रभु जो जमुना गति सो गति भई हमारी ॥ १२ ॥

सारंग

हमारे हरि हारिल की लकरी ।
मन बच करम नंदनन्दन सों उर यह दृढ़ पकरी ॥
जागत सोवत, सपने सौंतुख कान्ह कान्ह जकरी ।
सुनतहि जोग लगत ऐसो अलि ज्यों करुई ककरी ॥
सोई ब्याधि हमैं लै आए देखी सुनी न करी ।
यह तो 'सूर' तिन्हैं लै दीजै जिनके मन चकरी ॥ १३ ॥

नट

मोहन माँग्यो अपनो रूप ।
यहि ब्रज बसत अँचै तुम बैठी ताबिनु तहाँ निरूप ॥
मेरो मन, मेरो, अलि ! लोचन लै जो गए धुपधूप ।
हमसों बदलो लेन उठि धाए मनो धारिकर सूप ॥

अपनो काज सँवारि 'सूर' सुन हमहिं बतावत कूप।
लेवादेइ बराबर में है, कौन रंक को भूप ॥१४॥

गौरी

उपमा एक न नैन गही।
कबिजन कहत कहत चलि आए सुधि करि करि काहून कही ॥
कहे चकोर, मुख बिधु बिनु जीवन, भँवर न तहँ उड़ि जात।
हरिमुख, कमल-कोस बिछुरे तें ठाले क्यों ठहरात ?
खंजन मनरंजन जन जो पै, कबहुँ नाहिं सतरात।
पंख पसारि न उड़त मंद ह्वै समर समीप बिकात ॥
आए बधन ब्याध ह्वै ऊधौ, जो मृग, क्यों न पलाय ?
देखत भागि बसै घन बन में जहँ कोउ संग न धाय ॥
ब्रज लोचन बिनु लोचन कैसे ? प्रति छिन अति दुख बाढ़त।
'सूरदास' मीनता कछू इक जल भरि संग न छाँड़त ॥ १५ ॥

सारंग

ऊधौ अब यह समुझ भई।
नँदनन्दन के अङ्ग अङ्ग प्रति उपमा न्याइ दई ॥
कुन्तल कुटिल भँवर भरि भाँवरि मालति भुरै लई।
तजत न गहरु कियो कपटी जब जानी निरस गई ॥
आनन इन्दु बरन सम्पुट तजि करके तें न नई।
निरमोही नहिं नेह कुमुदिनी अन्तहि हेम हई ॥

तन घन स्याम सेइ निसिबासर, रटि रसना छिजई।
'सूर' विवेक हीन चातक मुख बूँदौ तौ न सई ॥ १६ ॥

केदारा

ऊधौ बिरहौ प्रेमु करै।
ज्यों बिनु पुट पट गहै न रङ्गहिं, पुट गहे रसहि परै ॥
जौ आवौं घट दहत अनल तनु तौ पुनि अमिय भरै।
जौ धर बीज देह अंकुर चिरि तौ सत फरनि फरै ॥
जौ सर सहत सुभट सम्मुख रन तौ रबि रथहि सरै।
'सूर' गोपाल प्रेमपथ जल ते कोउ न दुखहि डरै ॥ १७ ॥

अडाना

सबन अबध, सुन्दरी बधै जनि।
मुक्तामाल, अनंग! गंग नहिं, नवसत साजे अर्थ स्यामघन ॥
भाल तिलक उडुपतिन होय यह, कवर-ग्रंथि अहिपतिन सहसफन।
नहिं विभूति दधिसुतन भाल,जड़! यह मृगमदचंदन चर्चित तन ॥
न गजचर्म यह असित कंचुकी, देखि बिचारि कहाँ नंदीगन।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे दरस बिनु बरबस काम करत हठ हम सन ॥१

विविध

धनाश्री

और को जानै रस रीति।
कहाँ हौं दीन, कहाँ त्रिभुवनपति, मिले पुरातन प्रीति ॥

निमिष न चितवः
मोसों बात कही अंतर की गये जाहिं जुग बीति ॥
बिनु गोबिंद सकल सुख सुंदरि भुस पर की सी भीति ।
हौं कहा कहौं, सूर के प्रभु की निगम करत जाकी कीति ॥ १ ॥

सोरठ

हरि, तुम क्यों न हमारैं आये ।
षट्रस व्यंजन छाँडि रसोई साग बिदुर घर खाये ॥
ताकी कुटिया में तुम बैठे कौन बड़प्पन पायौ ।
जाति-पाँति कुलहू तें न्यारो, है दासी कौ जायौ ॥
मैं तोहि कहौं अरे दुरजोधन, सुनि तू बात हमारी ।
बिदुर हमारौ प्रान-पियारो तू बिषया अधिकारी ॥
जाति-पाँति हौं सब की जानौं, भक्तनि भेद न मानौं ।
सँग ग्वालन के भोजन कीनों, एक प्रेम ब्रत ठानौं ॥
जहँ अभिमान तहाँ मैं नाहीं, भोजन विष सो लागै ।
सत्य पुरुष बैठ्यो घट ही में, अभिमानी कों त्यागै ॥
जहँ-जहँ भीर परै भक्तन पै पाइ पयादे धाऊँ ।
भक्तन के हौं संग फिरत हौं, भक्तनि हाथ बिकाऊँ ॥
भक्त-बछलता बिरद हमारो बेद-उपनिषद गायौ ॥
सूरदास प्रभु निज जन महिमा गावत पार न पायौ ॥ २ ॥

बिलावल

जो पै हरिहिं न शस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गंगा जननी कों सांतनु-सुत न कहाऊँ॥
स्यंदन खंडि महारथ खंडौं कपिध्वज सहित डुलाऊँ।
इती न करौं सपथ मोहिं हरि की, छत्रिय-गतिहिं न पाऊँ॥
पांडव-दल सन्मुख ह्वै धाऊँ सरिता रुधिर बहाऊँ।
सूरदास, रन बिजय-सखा कों जियत न पीठि दिखाऊँ॥ ३॥

देश

वा पटपीत की फहरानि।
कर धरि चक्र चरन की धावनि, नहिं बिसरति वह बानि॥
रथ तें उतरि अवनि आतुर ह्वै, कच रज की लपटानि।
मानौं सिंह सैल तें निकस्यौ महामत्त गज जानि॥
जिन गुपाल मेरो प्रन राख्यौ मेटि बेद की कानि।
सोई सूर सहाय हमारे निकट भये हैं आनि॥ ४॥

मलिक मुहम्मद जायसी

इनका असली नाम मुहम्मद था। मलिक इनकी उपाधि थी और जायस में रहने के कारण लोग इन्हें जायसी कहते थे। ये आरम्भ से बड़े ईश्वर भक्त और साधुप्रकृति के थे। 'पदमावत' को पढ़ने से यह प्रकट हो जाएगा कि जायसी का हृदय कैसा कोमल और 'प्रेम की पीर' से भरा हुआ था। जायसी का 'पदमावत' बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इनकी एक और छोटी सी पुस्तक 'अखरावट' है। इसमें वर्णमाला के एक एक अक्षर को लेकर कुछ सिद्धांत संबन्धी बातें कही गई हैं। तीसरी पुस्तक 'आखिरी कलाम' फ़ारसी अक्षरों में छपी है। यह भी दोहे चौपाइयों में है और बहुत छोटी है। इसमें मरणोपरांत जीव की दशा और क़यामत के न्याय आदि का वर्णन है। बस ये ही तीन पुस्तकें जायसी की मिली हैं। इनमें जायसी की कीर्ति का आधार 'पदमावत' ही है।

पदमावत की सम्पूर्ण आख्यायिका को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। रत्नसेन की सिंहल द्वीप-यात्रा से लेकर पद्मिनी को लेकर चित्तौड़ लौटने तक हम कथा का पूर्वार्द्ध मान सकते हैं और राघव के निकाले जाने से लेकर पद्मिनी के सती होने तक उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध तो बिलकुल ही कल्पित कहानी है पर उत्तरार्द्ध का आधार ऐतिहासिक है।

जायसी का झुकाव सूफ़ी मत की ओर था, जिस में जीवात्मा और

परमात्मा में पारमार्थिक भेद न माना जाने पर भी साधकों के व्यवहार में ईश्वर की भावना प्रियतम के रूप में की जाती है। इन्होंने ग्रन्थ के अंत में सारी कहानी को अन्योक्ति कह दिया है और बीच बीच में भी उनका प्रेम-वर्णन लौकिक पक्ष से अलौकिक पक्ष की ओर संकेत करता जान पड़ता है। जायसी ने 'पद्मावत' के अंत में अपने सारे प्रबंध को व्यंग्य-गर्भित कह दिया है —

तन चितउर, मन राजा कीन्हा।
हिय सिंघल, बुधिपदमिनि चीन्हा॥ इत्यादि।

प्रबन्ध क्षेत्र के भीतर दो काव्य श्रेष्ठ हैं—'राम चरित मानस' और 'पद्मावत'। दोनों में 'राम चरित मानस' का पद ऊंचा है। परन्तु प्रेम-गाथा की परंपरा के भीतर जायसी का नम्बर सब से ऊंचा ठहरता है। जायसी का क्षेत्र तुलसी की अपेक्षा परिमित है, पर प्रेम-वेदना उनकी अत्यंत गूढ़ है।

वसंत वर्णन

चौपाई

दई दई कै सो रितु गँवाई। सिरी--पंचमी--पूजा आई॥
भयो हुलास नवल रितु माहाँ। खिन न सोहाय धूप औ छाहाँ॥
पदमावत सब सखीं हँकारी। जाँवत सिंहलदीप की बारी॥
आजु बसंत नवल रितु राजा। पंचमी होय जगत सब साजा॥
नवल सिंगार बनापति कीन्हा। सीस परासन सेंदुर दीन्हा॥
बिकसे कँवल फूल बहु बासा। भँवर आय लुबुधे चहुँ पासा॥
पियर पात दुख झारि निपाते। सुख पल्लव उपने है राते॥

दोहा—अवधि आये सो पूजी, जो इच्छा मन कीन्ह।
चलौ देव-मढ़ गोतन, चहौं सो पूजा दीन्ह॥ १॥

चौपाई

फिरी आन ऋतु बाजन बाजे। औ सिंगार बारिन सब साजे॥
कँवल करी पदमावत रानी। होय मालति जानहु बिकसानी॥

तारामँडर पहिर भल चोला। भरे सीस सब नखत अमोला॥
सखी कुमोद सहस दस संगा। सबै सगंध चढ़ाये अंगा॥
सब राजा रायन की बारी। बरन बरन पहिरे सब सारी॥
सबै सुरूप पदमिनी जाती। पान फूल सेंदुर सब राती॥
करहिं कलोल सो रंग रंगीली। औ चोवा चंदन सब गीली॥

दोहा—चहुँ दिस रही बासना, फुलवारी अस फूल।
वै बसंत सों फूलीं, गा बसंत उन्ह भूलि॥ २॥

चौपाई

भइ अहान पदमावति चली। छतिस कुरी भई गोहन भली॥
भई गौरी सँग पहिर पटोरा। बाम्हनि ठाऊँ सहस अंग मोरा॥
अगरवारि गज-गवन करेई। बैसिनि पाउँ हंसगति देई॥
चंदेलिनि ठमकत पगु धारा। चलि चौहानि होय झनकारा॥
चली सोनारि सोहाग सोहाती। औ कलवारि पेम-मद माती॥
बानिनि चली सेंदुर दै माँगा। कैथिन चली समाइ न आँगा॥
पठइनि पहिरि सुरँग तन चोला। औ बरइनि मुख रात तँबोला॥

दोहा—चलीं पउनि सब गोहन, फूल डालि लै हाथ।
विस्सुनाथ कै पूजा, पदुमावति के साथ॥ ३॥

चौपाई

ठाठेरिनि बहु ठाठर कीन्हे। चली अहीरिनि काजर दीन्हे॥
गुजरिनि, चली गोरस की माँती। बढ़इनि चली भाग की ताँती॥
चली लोहारिनि पैने नैना। भाटिनि चली मधुर अति बैना॥
गंधिनि चली सुगंध लगाये। छीपिनि चली सो छीट छपाये।

रँगरेजिनि बहु राती सारी। चलीं जुगुति सों नाउनि बारी ।।
मालिनि चलीं हार लिय गाँथे। तेलिन चलीं फुलायल माथे ।।
कै सिंगार बहु बेसवा चलीं। जहँ लग मूंदी बिकसी कलीं ।।
दोहा— नटिनि डोमिनी ढारिनी, सहनाइनि भेरिकारि।
निरतत नाद बिनोद सों, बिहँसत खेलत नारि ।।४।।

चौपाई

कमल सहाय चली फुलवारी। फर फूलन की इच्छा-बारी ।।
आप आप महँ करहिं जोहारू। यह बसंत सब कहँ तेवहारू ।।
चहैं मनोरा झूमक होई। फर औ फूल लेइ सब कोई ।।
फाग खेलि पुनि दाहब होरी। सैंतब खेह उड़ाउब झोरी ।।
आजु छाँड़ि पुनि दिवस न दूजा। खेलि बसंत लेउ कै पूजा ।।
भा आयसु पदुमावति केरा। फेरि न आय करब हम फेरा ।।
तस हम कहँ होइहि रखवारी। पुनि हम कहाँ कहाँ यह बारी ।।
दोहा—पुनि रे चलब घर आपन, पूजि बिसेसर देव।
जेहिका होहि खेलना, आजु खेलि हँसि लेव ।।५।।

चौपाई

काहू गही आंब कै डारा। काहू बिरह जाम्बु अति छारा ।।
कोइ नारंग कोइ झार चिरौंजी। कोइ कटहर बड़हर कोइ न्यौंजी।
कोइ दारथों कोइ दाख सुखीरी। कोइ सोसदाफर तुरँज जँभीरी ।।
कोइ जयफर कोई लौंग सुपारी। कोइ कमरख कोइ गुवा छोहारी।
कोई बिजउर कोई नरियर चूरी। कोई अमिली कोइ महुव खजूरी ।।

कोई हरफारेउरी जो कसौंदा। कोई अनार कोई बेर करौंदा ॥
काहु गही केरा कै घौरी। काहू हाथ परी निंबकोरी ॥
दोहा—काहू पाई नियरे, काहू कहँ गये दूर।
काहू खेल भया विष, काहू अमिरितमूर ॥ ६ ॥

चौपाई

पुनि बीनहिं सब फूल सहेली। जो जेहि आस पास सब बेली ॥
कोइ केवरा कोई चंप नेवारी। कोइ केतकि मालति फुलवारी ॥
कोइ सदबर्ग कुंद कोइ करना। कोइ चँबेली नागेसर बरना ॥
कोइ सुगुलाब सुदरसन कूजा। कोई सोनजरद भल पूजा ॥
कोइ सो मौलसिरी पुहुप बकउरी। कोई रूप-मँजरी कोई गौरी ॥
कोइ सिंगारहार तेहिं पाँहाँ। कोइ सेवती कदम की छाँहाँ ॥
कोइ चंदन फूलहिं जनु फूली। कोइ अजान बिरवा तर भूली ॥
दोहा—फूल पाव कोई पाती, जेहि के हाथ जो आँट।
चीरहार उरझाना, जहाँ छुवै तहँ काँट ॥ ७ ॥

चौपाई

फर फूलन सब डालि भराईं। झुंड बाँधि कै पंचम गाईं ॥
बाजहिं ढोल दुंदुभी भेरीं। मिरतँग तूर झाँझ चहुफेरीं ॥
सिंगि संख डफ संगम बाजे। बंसकार महुवर सुर साजे ॥
और कहा, जित बाजन भले। भांति भांति सब बाजत चले ॥
रथहिं चढ़ीं सब रूप सोहाईं। लै बसंत मढ़-मँडफ सिधाईं ॥
नवत बसंत नवल वै बारीं। सेंदुर बुक्का करहिं धमारी ॥
खिनहिं चलहिं खिन चाँचरि होई। नाच कूद भूला सब कोई ॥

दोहा—सेंदुर खेह उठा तस, गगन भयो सब रात।
राति सकल महि धरती, रात बिरिछ बन पात ॥ ८ ॥

चौपाई

यहि बिधि खेलत सिंहल रानी। महादेव मढ़ जाय तुलानी ॥
सकल देवता देखै लागे। दृष्टि पाप सब उनके भागे ॥
एहि कैलास सुनी अपछरी। कहँ ते आय टूटि भुइ परी ॥
कोइ कहै पदुमिनी आई। कोइ कहै ससि नखत तराई ॥
कोइ कह फूल कोइ फुलवारी। भूले सबै देखि सब बारी ॥
एक सुरूप औ सेंदुर सारी। जानहु दिया सकल महि बारी ॥
मुरछि परै जाँवत जो जोहै। मानहु मिरिग दवारिहिं मोहै ॥
दोहा—कोइ परा भँवर होइ, बास लीन्ह जनु चाँप।
कोइ पतंग भा दीपक, ह्वै अधजर तन काँप ॥९॥

चौपाई

पदुमावति गइ देव दुवारू। भीतर मँडप कीन्ह पैसारू ॥
देवहु संसौ भा जिउ केरा। भागौं केहि बिधि मंडप घेरा ॥
एक जोहार कीन्ह औ दूजा। तिसरे आय चढ़ाई पूजा ॥
फर फूलन सब मँडप भरावा। चंदन अगर देव अन्हवावा ॥
भरि सेंदुर आगे भइ खरी। परसि देव औ पायन परी ॥
और सहेली सबै बियाहीं। मोकहँ देव कतहुँ बर नाहीं ॥
हौं निरगुन जेइ कीन्ह न सेवा। गुन निरगुन दाता तुम देवा ॥

दोहा—बर सँजोग मोहिं मेरवहु, कलस जाति हौं मानि।
जेहि दिन इच्छा पूजै, वेगि चढ़ाऊँ आनि॥ १० ॥

ईछि ईछि बिनवा जस जानी। पुनि कर जोरि ठाढ़ भइ रानी॥
उतरु को देय देव मरि गयऊ। सब अकूत मँडफ महँ भयऊ॥
काटि पबारा जैस परेवा। मरि गा ईस उतरु को देवा॥
भे बिन जिउ सब नाउत ओझा। विष भईं पूरि काल भये गोझा॥
जेहि देखा जनु बिसहर डसा। देखि चरित पदुमावति हँसा॥
भला हम आय मनावा देवा। गा जनु सोय को माने सेवा॥
को इच्छा पुरवै दुख खोवा। जहँ मन आयसो तनि तनि सेवा॥

दोहा—जेहि धरि सखी उठावहिं, सीस बिकल नहिं डोल।
धर कोउ जीव न जानै, मुख रे बकत कुबोल॥ ११ ॥

चौपाई

ततखन आई सखी बिहँसानी। कौतुक एक न देखेहु रानी॥
पुरुब बार जोगी कोइ छाये। न जानौं कौन देस ते आये॥
जनु उन जोगी तंत अब खेला। सिद्ध होन निसरे सब चेला॥
उन महँ एक जो गुरु कहावा। जनु गुरु दै काहू बउरावा॥
कुँवर बतीसौ लच्छन सो गाता। दसयें लखन कहै एक बाता॥
जानहु आहि गोपिचँद जोगी। कै सो आहि भरथरी वियोगी॥
वे पिंगला गये कजरी आरन। या सिंघला सेवै केहि कारन॥

दो०—यहि मूरत यहि मुद्रा, हम न दीख अवधूत।
जानहु होहि न जोगी, कोइ राजा कर पूत॥१२॥

चौपाई

सुनि सो बात रानी रथ चढ़ी। कहँ अस जोगि जो देखऊँ मढ़ी॥
लै सँग सखिन कीन्ह तहँ फेरा। जोगि आइ जनु अछरन घेरा॥
नैन कचोर पेम-मद भरे। भई सुदिष्टि जोगि सउँ ढरे॥
जोगी दिष्टि दिष्टि सउँ लीन्हा। नैन रूप नैनन जिउ दीन्हा॥
जो मद चहत परा तेहि पाले। सुधि न रही ओहि एक पियाले॥
परा माति गोरखकर चेला। जिउ तन छाँड़ि सरग कहँ खेला॥
किंगिरी गहे जो हुत बैरागी। मरतिहु बार ओही धुनि लागी॥

दो०—जेहि धंधा जाकर मन, सपनेहु सूझ सो धंध।
तेहि कारन तप साधहिं, करहिं पेम मन बंध॥ १३॥

चौपाई

पदुमावत जस सुना बखानू। सहसकरा देखेसि तस भानू॥
मेलेसि चंदन मकु खिन जागा। अधिकौ सूत सीर तन लागा॥
तब चंदन आखर हिय लिखे। भीख लेबु तैं जोगि न सिखे॥
बार आइ तब गा तुइँ सोई। कैसे भुगुति परापति होई॥
अब जो सूर आहि ससि राता। आय चढ़ें सो गगन पुनि साता॥
लिखि कै बात सखी सों कही। यहै ठाउँ हौं बारत अही॥
प्रगट होउँ तो होय अस भिंगू। जगत दिया कर होय पतिंगू॥

दो०—जा सउँ हौं चख हेरौं, सोइ ठाउँ जिउ देइ।
यहि दुख कतहुँ न निसरौं, को हत्या अस लेइ॥ १४॥

चौपाई

कीन्ह पयान सबन्ह रथ हाँका । परमत छाँड़ि सिंगल गढ़ ताका ॥
बलि भये सबै देवता बली । हत्यारिन हत्या कै चली ॥
को अस हितू मुए गह बाहीं । जो पै जिउ अपने तन नाहीं ॥
जो लहि जिउ आयन सब कोई । बिन जीउ सबै निरापन होई
भाइ बंधु औ लोग पियारा । बिन जिउ घरी न राखै पारा ॥
बिन जिउ पिंड छार कर कूरा । छार मिलावै सोइ हितु पूरा ॥
तहि जिउ बिना अमर भा राजा । को अब उठै गरब सों गाजा ॥

दो०—परी कया भुइँ लौटे, कहँ रे जीउ बल भीउ ।
को उठाइ बइसारै, बाजि पिरीतम जीउ ॥ १५ ॥

चौपाई

सो पदुमावति मँदिर पईठी । हँसत सिंहासन जाइ बईठी ॥
निस सूती सुनि कथा बिहारी । भा बिहान औ सखिन हँकारी ॥
देव पूजि हौं आइउँ काली । सपन एक निसि देखेउँ आली ॥
जनु ससि उदय पुरुब दिस लीन्हा । औ रबि उदौ पछिमदिस कीन्हा ॥
पुनि चलि सूर चाँद पहँ आवा । चाँद सुरिज दुहुँ भयो मेरावा ॥
दिन औ राति जानु भए एका । राम आय रावन गढ़ छेंका ॥
तस कछु कहा न जाय निखेधा । अरजुन बान राहु गा बेधा ॥

दो०—जनहु लंक सब लूसी, हनू बिधंसी बारि ।
जागि उठिउँ अस देखत, कहु सखि सपन बिचारि ॥१६॥

चौपाई

सखी सो बोली सपन बिचारू। काल्हि जो गई देव के बारू
पूजि मनायहु बहुत बिनाती। परसन आइ भयो तुम्ह राती
सूरज पुरुब चांद तुम रानी। अस बर देव मिलावै आनी
पछूँ खंड का राजा कोई। सो आवै बर तुम कहँ होई॥
कछु पुनि जूझि लागि तुम रामा। रावन सों होइहि संग्रामा
चंद सुरिज सों होइ बियाहू। बारि बिधंसब बेधब राहू॥
जस ऊषा कहँ अनिरुध मिला। मेटि न जाय लिखा पुरबिला॥

दो०—सुख सुहाग है तुम कहँ, पान फूल रस भोग।
आजु काल्हि भा चाहै, अस सपने क सँजोग॥ १७

[पदमावत से]

नरोत्तमदास

सुदामा-चरित्र के लेखक—कविवर नरोत्तमदास का जन्म सीतापुर ज़िले के 'बाड़ी' नामक ग्राम में हुआ था। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके समय के विषय में 'शिवसिंह सरोज' में लिखा है कि संवत् १६०२ में ये अवश्य वर्त्तमान थे। इसी के आधार पर विद्वानों ने अनेक कल्पनाएँ की हैं।

यह कहना अनुचित होगा कि कविवर नरोत्तमदास ने सुदामा-चरित की कथा को केवल अपने ही मन से गढ़ा था। कृष्ण और सुदामा की मैत्री तो पुराण प्रसिद्ध एक प्राचीन आख्यान ही है। कविवर नरोत्तमदास जी ने उसे ब्रज-भाषा के साँचे में ढाल दिया।

ग़रीबी की मुसीबतें, ब्राह्मणत्व का आत्म-सम्मान, त्याग और सन्तोष सुदामा के चरित्र की विशेषताएँ हैं। इनका अन्तर-द्वन्द्व एवं जीवन की सादगी और उसका भोलापन काव्य में आदि से अन्त तक एक से निभ जाते हैं। ब्राह्मणी की आतुरता किन्तु पति के प्रति उसका शील तथा उसकी विनय भी कम सराहनीय नहीं है। दो अभिन्न हृदय मित्रों की भेंट तथा उनके हृदय की कोमलता का स्वाभाविक और सजीव चित्रण पत्थर को भी पिघला कर पानी कर सकता है। शान्त और करुणारस प्रधान यह छोटा सा खण्ड काव्य मध्य कालीन हिन्दी-साहित्य की एक अमूल्य निधि है। सरलता और माधुर्य—यही इस काव्य की विशेषताएँ हैं।

सुदामा-चरित्र

ज्यों गंगा जल पान तें, पावत पद निर्वान।
त्यों सिन्धुर-मुख बात तें, मूढ़ होत बुधिवान॥ १ ॥
बिप्र सुदामा बसत हैं, सदा आपने धाम।
भिक्षा करि भोजन करैं, हिये जपैं हरि नाम॥ २ ॥
ताकी घरनी पतिव्रता, गहे वेद की रीति।
सुलज, सुसील,सुबुद्धि अति, पति सेवा में प्रीति॥ ३ ॥
कही सुदामा एक दिन, कृस्न हमारे मित्र।
करत रहति उपदेस तिय, ऐसो परम विचित्र॥ ४ ॥
महाराज जिनके हितू, हैं हरि यदुकुल चन्द।
ते दारिद सन्ताप ते, रहैं न क्यों निरद्वन्द॥ ५ ॥

सिच्छक हौं सिगरे जग को,
तिय ! ताको कहा अब देति है सिच्छा।
जे तप कै परलोक सुधारत,
सम्पति की तिनके नहिं इच्छा॥

मेरे हिये हरि के पद पंकज,
बार हजार लै देखु परिच्छा।
औरन को धन चाहिये बावरी,
बांभन के धन केवल भिच्छा ॥ ६ ॥

दानी बड़े तिहुँ लोकन में,
जग जीवत नाम सदा जिनको लै।
दीनन की सुधि लेत भली विधि,
सिद्ध करौ पिय मेरो मतौ लै।
दीनदयाल के द्वार न जात सो,
और के द्वार पै दीन ह्वै बोलै।
श्री जदुनाथ से जाके हितू सो,
तिहूँपन क्यों कन माँगत डोलै ॥७॥

छत्रिन के पन जुद्ध जुवा,
सजि बाजि चढ़ै गजराजन ही।
बैस के बानिज और कृसी पन,
सूद को सेवन साजन ही।
विप्रन के पन है जु यही,
सुख सम्पति को कुछ काज नहीं।
कै पढ़िबो कै तपोधन ,
कन माँगत बांभनै लाज नहीं ॥८॥

कोदों सवां जुरतो भरि पेट,

न चाहति हौं दधि-दूध मिठौती।
सीत वितीत भयो सिसियातहिं,
हौं हठती पै तुम्हैं न पठौती।
जौ जनती न हितू हरि सों,
तुम्हें काहे को द्वारिका ठेलि पठौती।
या घरतें न गयो कबहूँ, पिय!
टूटो तवा अरु फूटी कठौती॥ ९॥

छांड़ि सबै जक तोहि लगी बक,
आठहु जाम यहै जिय ठानी।
जातहिं दैहैं लदाय लढ़ाभरि,
लैहों लदाय यहै जिय जानी॥
पैहौं कहाँ ते अटारी अटा,
जिनके विधि दीन्ही है टूटी सी छानी।
जो पै दरिद्र लिख्यो है लिलार,
तो काहू पै मेटि न जात अजानी॥ १०॥

पूरन पैज करी प्रहलाद की,
खम्भ सों बांध्यो पिता जिहि बेरे।
द्रौपदी ध्यान धर्यो जबहीं,
तबहीं पट कोटि लगे चहुँ फेरे।
ग्राह ते छूटि गयन्द गयो पिय,
याहि सो है निह्चय जिय मेरे।

ऐसे दरिद्र हजार हरें वे,
　　कृपानिधि लोचन-कोर के हेरे ॥११॥

चक्कवै चौकि रहे चकि से,
　　तहाँ भूले से भूप कितेक गिनाऊं।
देव गन्धर्व औ किन्नर जच्छ से,
　　साँझ लौं ठाढ़े रहैं जिहि ठाऊं।
ते दरबार बिलोक्यों नहीं अब,
　　तोहि कहा कहिके समझाऊं।
रोकिए लोकन के मुखिया,
　　तहँ हौं दुखिया किमि पैठन पाऊं ॥१२॥

दीन दयाल को ऐसोई द्वार है,
　　दीनन की सुधि लेत सदाई।
द्रौपदी तैं गज तैं प्रहलाद तैं,
　　जानि परी ना बिलम्ब लगाई ॥
याही ते भावति मो मन दीनता-
　　जौ निबहै निबहै जस आई।
जौ ब्रजराज सौं प्रीति नहीं,
　　केहि काज सुरेसहु की ठकुराई ॥१३॥

प्रीति में चूक नहीं उनके हरि,
　　मो मिलि हैं उठि कण्ठ लगाय कै।
द्वार गए कछु दै हैं पै दै हैं,

वे द्वारिका नाथ जू हैं सब लायकै ॥
जे विधि बीति गए पन द्वै,
अब तो पहुँचो बिरधापन आय कै।
जीवन शेष अहै दिन केतिक,
होहुँ हरी सों कनावड़ो जाय कै ॥१४॥

द्वारिका जाहु जू द्वारिका जाहु जू,
आठहु जाम यहै झक तेरे।
जौ न कहौ करिए तौ बड़ो दुख,
जैये कहां अपनी गति हेरे ॥
द्वार खड़े प्रभु के छरिया तहं,
भूपति जान न पावत नेरे।
पांचु सुपारि तौ देखु बिचारि कै,
भेंट को चारि न चांवर मेरे ॥ १५ ॥

यहि सुनि कै तब ब्राह्मणी, गई परोसिन पास।
पाव सेर चाउर लिए, आई सहित हुलास ॥ १६ ॥
सिद्धि करी गनपति सुमिरि, बांधि दुपटिया खूंट।
माँगत खात चले तहाँ, मारग बाली-बूंट १७ ॥
दीठि चकाचौंध गई देखत सुबर्नमई,
एक ते आछे एक द्वारिका के भौन हैं।
पूछे बिनु कोऊ कहूँ काहू सों न बात करै,
देवता से बैठे सब साधि साधि मौन हैं ॥

देखत सुदामा धाय पौरजन गहे पांय,
कृपा करि कहो विप्र कहां कीन्हों गौन है।
धीरज अधीर के हरन पर पीर के,
बताओ बलबीर के महल यहाँ कौन हैं॥ १८॥

दीन जानि काहू पुरुस, कर गहि लीन्हो आय।
दीन द्वार ठाढ़ो कियो, दीन दयाल के जाय॥ १९॥
द्वारपाल द्विज जानि कै, कीन्ही दण्ड प्रनाम।
विप्र कृपा करि भाषिए, सकुल आपनो नाम॥ २०॥
नाम सुदामा, कृस्न हम, पढ़े एकई साथ।
कुल पांडे वृजराज सुनि, सकल जानि हैं गाथ॥ २१॥
द्वार पाल चलि तहं गयो, जहाँ कृस्न यदुराय।
हाथ जोरि ठाढ़ो भयो, बोल्यो सीस नवाय॥ २२॥

सीस पगा न झँगा तन में,
प्रभु! जाने को आहि बसे केहि ग्रामा।
धोती फटी-सी लटी-दुपटी अरु,
पांय उपानह की नहिं सामा॥
द्वार खरो द्विज दुर्बल एक,
रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीन दयाल को धाम,
बतावत आपनो नाम सुदामा॥ २३॥

बोल्यो द्वारपालक, 'सुदामा नाम पांडे' सुनि,

छांडे राज काज ऐसे जी की गति जानै को ?
द्वारिका के नाथ हाथ जोरि धाय गहे पांय,
भेटे भरि अंक लपटाय दुख साने को ?
नैन दोऊ जल भरि पूछत कुसल हरि,
विप्र बोल्यो विपदा में मोहि पहिचानै को ?
जैसी तुम करी तैसी करै को दया के सिन्धु,
ऐसी प्रीति दीन बन्धु ! दीनन सों मानै को ? २४ ॥

लोचन पूरि रहे जलसों,
प्रभु दूरि ते देखत ही दुख मेटयो ।
सोच भयो सुरनायक के,
कलद्रुपम के हिय माझ खसेटयो ।
कम्प कुबेर हिये सरस्यो,
परसे पग जात सुमेरु ससेटयो ।
रंक ते राउ भयो तबहीं,
जबहीं भरि अंक रमापति भेटयो ॥ २५ ॥

भेंटि भली विधि विप्र सों, कर गहि त्रिभुवनराय ।
अन्त:पुर को लै गए, जहां न दूजो जाय ॥ २६ ॥
मनि मंडित चौकी कनक, ता ऊपर बैठाय ।
पानी धरयो परात में, पग धोवन को लाय ॥ २७ ॥
जिनके चरनन को सलिल, हरत जगत संताप ।
पांय सुदामा विप्र के, धोवत ते हरि आप ॥ २८ ॥

ऐसे बेहाल बिवाइन सों,
पग कंटक जाल लगे पुनि जोए।
हाय महा दुख पायो सखा तुम
आए इतै न कितै दिन खोए॥
देखि सुदामा की दीन दसा,
करुना करि कै करुना-निधि रोए।
पानी परात को हाथ छुयौ नहिं,
नैनन के जल सों पग धोए॥ २६॥

धोय पांय पट-पीत सों, पोंछत हैं जदुराय।
सतिभामा सों यों कही, करो रसोई जाय॥ ३०॥
तन्दुल तिय दीने हते, आगे धरियो जाय।
देखि राज-सम्पति विभव, दै नहिं सकत लजाय॥ ३१॥
अन्तरजामी आपु हरि, जानि भगत की रीति।
सुहृद सुदामा विप्र सों, प्रगट जनाई प्रीति॥ ३२॥
कछु भाभी हमको दियो, सो तुम काहे न देत।
चाँपि पोटरी कांख में, रहो कहो केहि हेत॥ ३३॥
खोलत सकुचत गाँठरी, चितवत हरि की ओर।
जीरन पट फटि छुटि परयो, बिथरि गये तेहि ठौर॥३४॥

एक मुठी हरि भरि लई, लीन्हीं मुख में डारि।
चबत चबाउ करन लगे, चतुरानन त्रिपुरारि॥३५॥
कांपि उठी कमला मन सोचत,

मोसों कहा हरि को मन आंको ?

ऋद्धि सब सिद्धि कँपी;

नवनिद्धि कँपी बम्हना यह धौं को ?

सोच भयो सुरनायक के,

जब दूसरी बार लियो भरि झोंको ।

मेरु डरयो बकसे निज मोहिं,

कुबेर चबावत चाउर चोंको ॥३६॥

भौन भरो पकवान मिठाइन,

लोग कहैं निधि हैं सुखमा के ।

साँझ सबेरे पिता अभिलाखत,

दाखन चाखत सिन्धु छमा के ॥

बाभन एक कोउ दुखिया सेर-

पावक चाउर लायो समा के ।

प्रीति की रीति कहा कहिए,

तेहि बैठि चबात हैं कन्तरमा के ॥३७॥

मुठी तीसरी भरत ही, रुकमिनि पकरी बांह ।

ऐसी तुम्हें कहा भई, सम्पति की अनचाह ॥३८॥

कही रुकमिनी कान में, यह धौं कौन मिलाप ।

करत सुदामा आपु सों, होत सुदामा आपु ॥३९॥

क्यों रस में विष बाम कियो,

अब और न खान दियो एक फंका ॥

विप्रहिं लोक तृतीयक देत,
करी तुम क्यों अपने मन संका ॥
भामिनि मोहि जेंवाइ भली विधि,
कौन रह्यो जग में नर रंका।
लोक कहै हरि मित्र दुखी,
हमसों न सह्यो यह जात कलङ्का ॥४०॥
भार्गव हू सब जीति धरा,
दय विप्रन को अति ही सुख मानो।
विप्रन काढ़ि दियो तुमको,
निशि तादिन को विसरो खिसियानो ॥
सिन्धु हटाय करी तुम ठौर,
द्विजन्म सुभाव भली विधि जानो।
सो तुम देत द्विजै सब लोक,
कियौ तुमने अब कौन ठिकानो ॥४१॥
भामिनि क्यों बिसरीं अबहीं,
निज व्याह समय द्विज की हितुआई।
भूलि गई द्विज की करनी,
जेहि के कर सों पतिया पठवाई।
विप्र सहाय भयो तेहि औसर,
को द्विज के समुहे सुखदाई।
योग्य नहीं अर्द्धाङ्गनि है,
तुमको द्विज हेतु इती निठुराई ॥४२॥

देनो हुतो सो दै चुके, विप्र न जानी गाथ।
मन में गुनो गुपाल जू, कछु ना दीनो हाथ ॥ ४३ ॥
वह पुलकनि वह उठि मिलन, वह आदर की बात।
यह पठवनि गोपाल की, कछू न जानी जात ॥ ४४ ॥
सुन्दर महल मनि-मानिक जटित अति,
सुबरन सूरज-प्रकास मानो दै रह्यो।
देखत सुदामा जू को नगर के लोग धाये,
भेंटें अकुलाय जोई सोई पग छ्वै रह्यो॥
बांभनी के भूसन विविध बिधि देखि कह्यो,
जैहौं हौं निकासो सो तमासो जग ज्वै रह्यो॥
ऐसी दसा फिरी जब द्वारिका दरस पायो,
द्वारिका के सरिस सुदामा पुर ह्वै रह्यो ॥ ४५ ॥

[सुदामा-चरित्र से]

मीराबाई

मीराबाई जोधपुर के राठौर रतनसिंह की एकलौती बेटी थीं। इनका विवाह उदयपुर के कुंअर भोजराज के साथ हुआ था। इनका समय कौन सा है, इस विषय में बड़ा मतभेद है। कहा जाता है कि विवाह होने से दस वर्ष के भीतर ही ये विधवा हो गईं, परन्तु इनको इस बात का कुछ भी शोक नहीं हुआ, क्योंकि इनके हृदय में गिरिधर गोपाल के लिए बड़ी भक्ति थी और ये रात दिन उन्हीं के प्रेम में मतवाली रहती थीं। अपने कुल की लाज छोड़कर ये बेधड़क साधुओं की सेवा करती थीं। इनका चित्त साधु संगति की ओर से हटाने का प्रयत्न किया गया। परन्तु जो मीरा को समझाने के लिए भेजी जाती थी, उन पर भी भक्ति का रंग चढ़ जाता था।

मीराबाई के हृदय में अगाध प्रेम था। उनके पदों से उनकी हार्दिक भक्ति प्रकट होती है। इनकी कविता राजपूतानी बोली मिश्रित हिन्दी भाषा में है। इनकी रचना को गुजराती भी अपनी भाषा की रचना समझते हैं।

प्रेमपद

(१)

म्हांने चाकर राखो जी,

गिरिधर लाल चाकर राखो जी ॥

चाकर रहसूं, बाग लगासूं, नित उठ दरसन पासूं।
वृन्दावन की कुंज गलिन में, गोविंद-लीला गासूं ॥ १ ॥
मोर मुकुट पीताम्बर सोहे, गल बैजंती माला।
वृन्दावन में धेनु चरावे, मोहन मुरली वाला ॥ २ ॥
ऊंचे ऊंचे महल बनाऊं, बिच बिच राखूं बारी।
साँवरिया के दरशन पाऊं, पहिर कुसुम्भी सारी ॥ ३ ॥
जोगी आया जोग करन कूं, तप करने सन्यासी।
हरी-भजन कूं साधू आये, वृन्दावन के बासी ॥ ४ ॥
मीरा के प्रभु गहिर गँभीरा, हृदे रहो जी धीरा।
आधी रात प्रभु दरसन दीन्हों, जमुना जी के तीरा ॥ ५ ॥

(२)

नहिं ऐसो जन्म बारंबार ।
क्या जानूं कछु पुन्य प्रकटे मानुसा अवतार ॥
बढ़त पल पल घटत छिन छिन, चलत न लागे वार ।
बिरछ के ज्यों पात टूटे, लागे नहिं पुनि डार ॥
भवसागर अति ज़ोर कहिये विषम ओखी धार ।
सुरत का नर बाँधे बेड़ा बेगि उतरे पार ॥
साधु संता ते महंता चलत करत पुकार ।
दास मीरां लाल गिरिधर जीवना दिन चार ॥

(३)

पायो जी, मैंने राम-रतन धन पायो ॥
वस्तु अमोलक दी मेरे सतगुरु,
किरपा कर अपनायो ॥ १ ॥
जनम जनम की पूँजी पाई,
जग में सभी खोवायो ॥ २ ॥
खरचै न खूटै, वाको चोर न लूटै,
दिन दिन बढ़त सवायो ॥ ३ ॥
सत की नाव, खेवटिया सतगुरु,
भव सागर तर आयो ॥ ४ ॥
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर,
हरख हरख जस गायो ॥ ५ ॥

(४)

मेरे राणा जी, मैं गोविन्द-गुण गाना ॥ ध्रु० ॥
राजा रूठे नगरी रक्खे अपनी, मैं हरि रूठ्या कहाँ जाना ? ॥१॥
राणे भेजा ज़हर पियाला, मैं अमृत कह पी जाना ॥२॥
डबिया में काला नाग भेजा, मैं शालग्राम कर जाना ॥३॥
मीराबाई प्रेम-दिवानी, मैं साँवलिया वर पाना ॥४॥

(५)

भज मन चरण कँवल अबिनासी ।
जेताइ दीसे धरण गगन बिच तेताई सब उठ जासी ।
कहा भयो, तीरथ ब्रत कीन्हें, कहा लिये करवत कासी ।
इस देही का गरब न करना, माटी में मिल जासी ।
ये संसार चहर की बाजी, साँझ पड़यां उठ जासी ।
कहा भयो है भगवा पहरयाँ, घर तज भये सन्यासी ।
जोगी होय जुगुति नहिं जाणी, उलटि जनम फिर आसी ।
अरज करों अबला कर जोरे, श्याम तुम्हारी दासी ।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, काटो जम की फाँसी ।
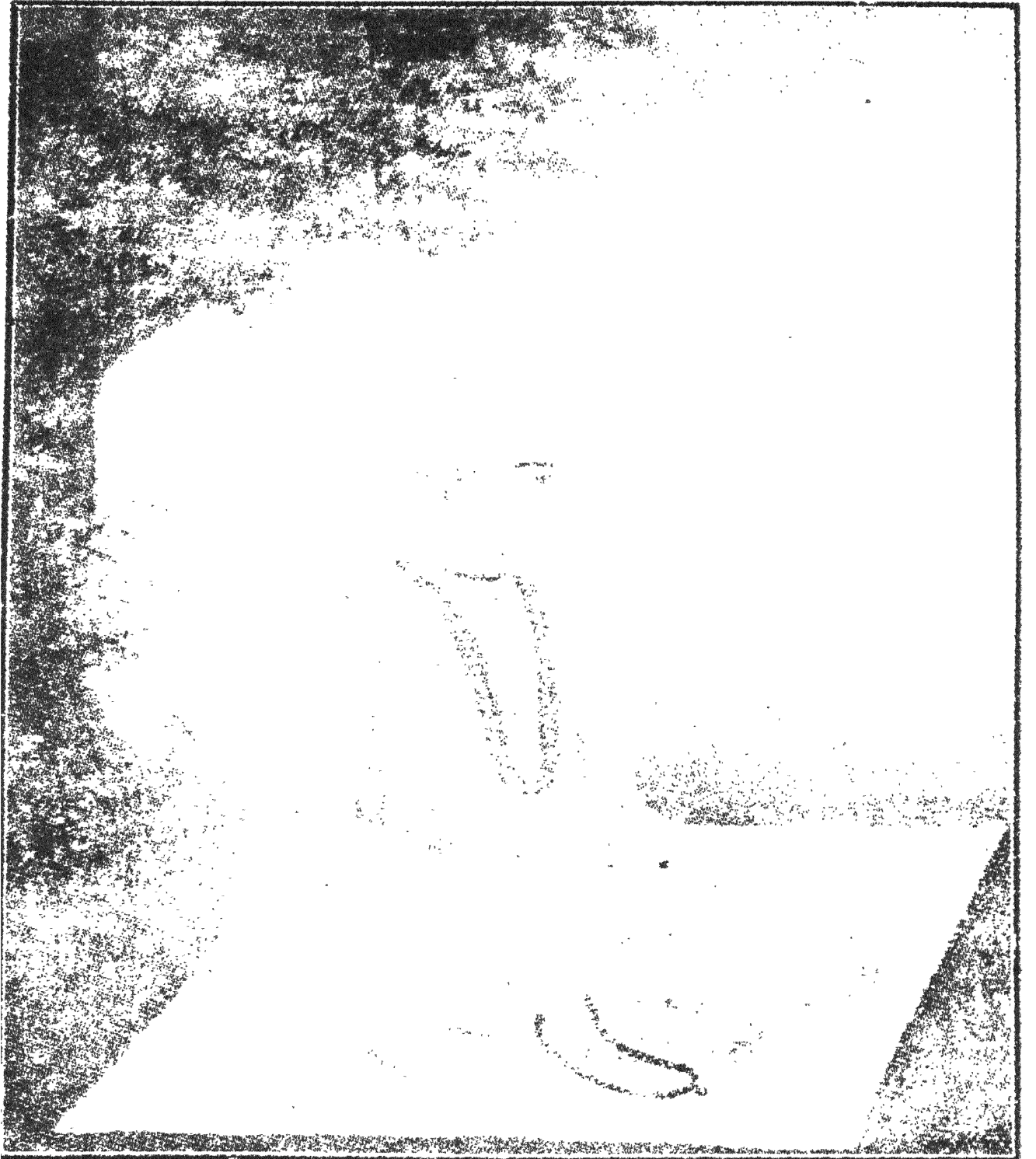
गोस्वामी तुलसीदास

गोस्वामी तुलसीदास

तुलसी के पहले कबीर ने जिस विश्वजनीन धर्म की स्थापना की थी, उसे जनता नहीं समझ सकी। उनके उपदेश नीरस लगे और उनकी निर्गुण-भक्ति शुष्क प्रतीत हुई।

तुलसी के समय समाज की दशा भी गिर रही थी। हिन्दू-धर्म की आधारभूता वर्ण-व्यवस्था बिगड़ रही थी। 'विप्र निरच्छर वृषली स्वामी' होगए थे। 'मूँड़ मुँड़ाय भये सन्यासी' लोग सन्यासी बनने लगे थे। 'नृप पापपरायन' थे। प्रजा स्वच्छन्द हो रही थी। साहित्य की दशा भी अच्छी न थी। इस समय तक जिस साहित्य की सृष्टि हो चुकी थी, उस पर मुसलमानों का प्रभाव पड़ा था। जायसी तो सूफ़ी-संप्रदाय के ही कवि थे, उनकी रचनाओं में मुसलमानी प्रभाव स्पष्ट था। कबीर पर भी मुसलमानी प्रभाव कम न था। उस समय ऐसे साहित्य की आवश्यकता थी जो उक्त प्रभाव से बिलकुल रहित हो और जन-साधारण के लिए उपयोगी हो। ऐसे समय में तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' जैसे ग्रन्थ की रचना द्वारा धार्मिक और सामाजिक अव्यवस्था दूर की। 'मानस' के द्वारा हिन्दी-साहित्य की भी श्रीवृद्धि हुई, और हिन्दी भाषा को प्रौढ़ता मिली। रामभक्ति की जो धारा रामानन्द ने बहाई, उसी को गोस्वामी जी ने पूर्ण सहयोग देकर, प्रबल वेग से बढ़ाया; जिसमें

हिन्दू-जाति की नैराश्य-जनित खिन्नता बह गई, और उसके स्थान पर जनता में मर्यादापुरुषोत्तम और लोकरक्षक राम के आदर्श-स्वरूप को देखकर, सजीवता आगई।

तुलसीदास, बाल्य-काल में माता-पिता से परित्यक्त होने से आश्रयहीन होकर इधर-उधर घूमते रहे। महात्मा नरहरिदास ने इन्हें आश्रय दिया और रामायण की कथा सुनाई। रामभक्ति का बीजारोपण इनके चित्त में यहीं से हुआ। काशी के प्रसिद्ध विद्वान् शेषसनातन से १५ वर्ष तक, वेद-शास्त्रादि पढ़कर अपने जन्मस्थान राजापुर लौट आए और विवाह करके यहीं रहने लगे। इनके जीवन के काया-पलट का कारण इनकी स्त्री की फटकार है। इसी के प्रभाव से इनका सांसारिक प्रेम एकदम ईश्वरीय प्रेम में बदल गया। इनकी रचनायें इसी भक्ति के उद्गारों के फल हैं।

तुलसीदास केवल उच्च कोटि के भक्त, धर्म और समाज के रक्षक ही नहीं, वरन् महाकवि भी थे। कविता की दृष्टि से इनके सभी ग्रंथ उच्च कोटि के हैं। इनके ग्रंथों में 'रामचरितमानस' सब से अधिक प्रसिद्ध है। इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना भी यही है। आज 'रामचरितमानस' करोड़ों हिन्दुओं का धर्म-ग्रंथ है। साहित्यिक दृष्टि से इसके जोड़ का दूसरा ग्रंथ आज तक नहीं लिखा गया। लोकहित की दृष्टि से भी यह ग्रंथ अद्वितीय है।

'मानस' में राम के चरित्र के द्वारा हिन्दू-धर्म का सच्चा स्वरूप जनता के सामने उपस्थित किया गया है। आदर्श चरित्रों की सृष्टि के द्वारा

धर्म और समाज की व्यवस्था, राजा और प्रजा का पारस्परिक बर्ताव, माता, पिता, गुरु, भाई इत्यादि के सम्बन्धों का निर्वाह, यहाँ तक कि मानव-जीवन की सर्वाङ्गीण व्याख्या बड़ी सहृदयता और चतुरता से की गई है। जीवन की सरल से सरल और जटिल से जटिल समस्याओं का जितना समीचीन विवेचन इस ग्रंथरत्न में हुआ है उतना अन्य काव्यग्रंथों में नहीं।

इसी व्यावहारिक उपयोगिता के कारण यह ग्रंथ इतना प्रचलित है।

कविता के दृष्टिकोण से देखने पर हमें काव्यशास्त्र के सभी लक्षण इसमें दिखाई देते हैं। नवों रसों का विकास इस काव्य-ग्रंथ में सुचारु रूप से किया गया है। शृंगार और प्रेम का मर्य्यादापूर्ण वर्णन जैसा इसमें किया गया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। शुद्ध और निष्काम प्रेम हमें 'दोहावली' के चातक-सम्बन्धी दोहों में दिखाई देता है।

"चातक तुलसी के मते स्वातिहुँ पियै न पानि।
प्रेम-तृषा बाढ़त भली, घटे घटेगी आनि॥
बध्यो बधिक पर्‌यो पुन्य जल, उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक-प्रेम-पट, मरतहु लगी न खोंच॥"

अलंकारादिकों का प्रयोग भी इनकी रचना में बहुत स्वाभाविक है। 'मानस' में किए गए प्रकृति-वर्णन से हमें तुलसीदास की प्रकृति के पर्य्यवेक्षण की शक्ति का पता लगता है। प्राकृतिक घटनाओं से अनेक शिक्षाओं को निकालकर इन्होंने प्रकृति की सार्थकता को और भी

अधिक बढ़ाया है। इस प्रकार की शिक्षायें साधारण रूप से दी गई शिक्षाओं से अधिक प्रभावशालिनी हो गई हैं।

जैसेः—

"बुंद अघात सहैं गिरि कैसे।
खल के वचन संत सह जैसे॥
क्षुद्र नदी भरि चलि उतराई।
जिमि थोरेहु धन खल बौराई॥"

इस ग्रन्थ के निर्माण में गोस्वामी जी का उद्देश्य राम-भक्ति का प्रचार करना था। रामायण की प्रत्येक घटना का संकेत राम-भक्ति की ओर है। इस ग्रन्थ की रचना से इनकी जो ख्याति हुई, वह क्रमशः बढ़ते बढ़ते विश्वव्यापिनी हो गई है।

जनता में 'मानस' के द्वारा लोक धर्म की प्रतिष्ठा कर चुकने पर उन्होंने "विनय-पत्रिका" के द्वारा आत्मोद्धार-और आत्म-निवेदन का भी मार्ग दिखाया।

तुलसीदास भाषा के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। संस्कृत के विद्वान् तो थे ही। साथ ही अवधी और व्रजभाषा पर भी इनका समान अधिकार था। लोकहित की कामना से इन्होंने अपनी रचना संस्कृत में न करके भाषा में ही की है। इन्होंने अवधी और व्रजभाषा में संस्कृत की पुट लगाकर उन्हें प्रौढ़ता दी, उनका साहित्यिक मूल्य बढ़ाया और उनमें नवीन चमत्कार उत्पन्न किया। जायसी की अवधी और सूर की व्रजभाषा कुछ ग्रामीण है। पर तुलसी की अवधी और व्रजभाषा सुसंस्कृत और

परिमार्जित है। रामचरितमानस और बरवै रामायण की रचना अवधी भाषा में हुई है। विनयपत्रिका, कवितावली और गीतावली व्रज-भाषा में लिखी गई हैं, भाषा भावों के अनुरूप ही प्रयुक्त हुई है। इनकी शैली में शैथिल्य-दोष नहीं आने पाया है।

तुलसीदास ने जो कुछ लिखा स्वान्तःसुखाय लिखा, अन्तः प्रेरणा से लिखा, कवित्व-प्रदर्शन की अभिलाषा से नहीं और न उपदेश देने की ही इच्छा से। इनकी रचना के प्रभावशाली होने का यह भी एक मुख्य कारण है। साहित्य के इतिहास में जो उच्च स्थान गोस्वामी जी को प्राप्त है, उसका अधिकारी आज तक कोई न हुआ।

ऊपर जिन ग्रंथों का उल्लेख हो चुका है, उनके अतिरिक्त इनके ग्रंथ ये हैं:—दोहावली, रामाज्ञाप्रश्न, रामललानहछू, कृष्णगीतावली, पार्वतीमंगल, जानकीमंगल, हनुमानबाहुक और वैराग्यसंदीपनी।

दोहा

हिय निर्गुन नयनन्हि सगुन रसना राम सुनाम ।
मनहुँ पुरट-संपुट लसत, तुलसी ललित ललाम ॥ १ ॥
सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं, निर्गुन मन ते दूरि ।
तुलसी सुमिरहु राम को नाम सजीवन-मूरि ॥ २ ॥
एक छत्र, इक मुकुटमनि, सब बरनन पर जोउ ।
तुलसी रघुबर-नाम के बरन बिराजत दोउ ॥ ३ ॥
रामनाम नर-केसरी कनककसिपु कलिकालु ।
जापकजन प्रह्लाद जिमि पालहिं दलि सुरसाल ॥ ४ ॥
ब्रह्मराम ते नाम बड़ बरदायक बरदानि ।
रामचरित सतकोटि महँ लिय महेस जिय जानि ॥ ५ ॥
हिय फाटहु, फूटहु नयन, जरउ सो तन केहि काम ।
द्रवहिं, स्रवहिं, पुलकहिं नहीं तुलसी सुमिरत राम ॥ ६ ॥
रामहिं सुमिरत, रन भिरत, देत, परत गुरु पाय ।
तुलसी जिनहिं न पुलक तनु ते जग जीवत जाय ॥ ७ ॥

ज्ञान-गिरा-गोतीत, अज, माया-गुन-गोपार।
सोइ सच्चिदानंदघन करत चरित्र उदार॥ ८॥
बारि मथे घृत होइ बरु सिकता तें बरु तेल।
बिनु हरि-भजन न भव तरिय, यह सिद्धांत अपेल॥ ९॥
लव निमेष परमान जुग, बरष कलप सर चंड।
भजहि न मन तेहि राम कहँ काल जासु कोदंड॥ १०॥
जेहि सरीर रति राम सों सोइ आदरैं सुजान।
रुद्रदेह तजि नेह-बस बानर भे हनुमान॥ ११॥
काल करम गुन दोष जग जीव तिहारे हाथ।
तुलसी रघुबर रावरो, जान जानकीनाथ॥ १२॥
दंड जतिन कर, भेद जहँ नरतक नृत्य समाज।
जीतहु मनहिं सुनिय अस, रामचंद्र के राज॥ १३॥
मायाजीव, सुभाव, गुन, काल करम, महदादि।
ईस-अंक तें बढ़त सब ईस-अंक बिनु बादि॥ १४॥
संपति चकई, भरत चक, मुनि आयसु खिलवार।
तेहि निसि आस्रम-पींजरा राखे भा भिनुसार॥ १५॥
एक भरोसो, एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम-घनस्याम हित चातक तुलसीदास॥ १६॥
जौ घन बरषै समय सिर, जौ भरि जनम उदास।
तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस॥ १७॥
रटत रटत रसना लटी, तृषा सूखि गे अंग।
तुलसी चातक-प्रेम को नित नूतन रुचिरंग॥ १८॥

बरषि परुष पाहन पयद पंख करौ टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिए चतुर चातकहि चूक॥ १९॥
उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर?॥ २०॥
मान राखिबो, माँगिबो, पिय सों नित नव नेहु।
तुलसी तीनिउ तब फबैं, जौ चातक मत लेहु॥ २१॥
तुलसी चातक ही फबै मान राखिबो प्रेम।
बक्र बुंद लखि स्वातिहु निदरि निबाहत नेम॥ २२॥
प्रीति पपीहा पयद की प्रगट नई पहिचानि।
जाचक जगत कनाउड़ो, कियो कनौड़ो दानि॥ २३॥
नहिं जाचत, नहिं संग्रही, सीस नाइ नहिं लेइ।
ऐसे मानी माँगनेहि को बारिद बिन देइ?॥ २४॥
को को न ज्यायो जगत में जीवन-दायक दानि।
भयो कनौड़ो जाचकहि पयद प्रेम पहिचानि॥ २५॥
चातक जीवन-दायकहि, जीवन समय सुरीति।
तुलसी अलख न लखि परै चातक प्रीति प्रतीति॥ २६॥
मुख-मीठे, मानस-मलिन कोकिल मोर चकोर।
सुजस-धवल, चातक नवल! रह्यो भुवन भरि तोर॥ २७॥
चरग चंगुगत चातकहि नेम प्रेम की पीर।
तुलसी परबस हाड़ पर परिहै पुहुमीनीर॥ २८॥
बध्यो बधिक पर्‌यो पुन्यजल, उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेमपट मरतहु लगी न खोंच॥ २९॥

अंड फोरि कियो चेटुवा, तुष पर्यो नीर निहारि।
गहि चंगुल चातक चतुर डार्यो बाहिर बारि॥ ३०

सोरठा

जियत न नाई नारि चातक घन तजि दूसरहि।
सुरसरि हू को बारि मरत न माँगेउ अरध जल॥ ३१॥

दोहा

आलबाल मुकुताहलनि हिय, सनेह-तरु-मूल।
होइ हेतु चित चातकहि, स्वाति-सलिल अनुकूल॥ ३२॥
जो सुनि समुझि अनीतिरत, जागत रहै जु सोइ।
उपदेसिबो जगाइबो तुलसी उचित न होइ॥ ३३॥
बहु मुख, बहु रुचि, बहु बचन, बहु अचार ब्यवहार।
इनको भलो मनाइबो यह अज्ञान अपार॥ ३४॥

कवितावली

सवैया

दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुंदर मंदिर माहीं।
गावति गीत सबै मिलि सुंदरि, बेद जुवा जुरि बिप्र पढ़ाहीं॥
राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परछाहीं।
यातें सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारति नाहीं॥ १॥
गर्भ के अर्भक काटन को पटु धार कुठार कराल है जाको।
सोई हौं बूझत राजसभा 'धनु को दल्यौ'? हौं दलिहौं बल ताको॥

लघु आनन उत्तर देत बड़ो, लरिहै मरिहै करिहै कछु साको ।
गोरो गरूर गुमान भरो कहौ कौसिक छोटो सो ढोटो है काको ॥२॥
पुरतें निकसी रघुबीर-बधू, धरि धीर दये मग में डग द्वै ।
झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै ॥
फिरि बूझति हैं "चलनो अब केतिक, पर्णकुटी करिहौ कित ह्वै ?"
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै
जल को गए लक्खन हैं लरिका, परिखौ, पिय ! छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े
पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पाँय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े ॥
तुलसी रघुबीर प्रिया स्रम जानि कै बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े।
जानकी नाह को नेह लख्यौ, पुलको तनु, बारि बिलोचन बाढ़े ॥४॥
ठाढ़े हैं नौ द्रुम डार गहे, धनु कांधे धरे, कर सायक लै ।
बिकटी भ्रुकुटी बड़री अँखियाँ, अनमोल कपोलन की छबि है ॥
तुलसी असि मूरति आनि हिये जड़ डारिहौं प्रान निछावरि कै ।
स्रम-सीकर साँवरि देह लसै मनो रासि महा तम तारक मै ॥५॥
सीस जटा, उर बाहु बिसाल, बिलोचन लाल, तिरीछी सी भौंहैं ।
तून सरासन बान धरे, तुलसी बन-मारग में सुठि सोहैं ॥
सादर बारहिं बार सुभाय चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं ।
पूछति ग्रामबधू सिय सों 'कहौ साँवरे से, सखि रावरे को हैं ?' ॥६॥
सुनि सुंदर बैन सुधारस-साने, सयानी हैं जानकी जानी भली ।
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हैं समुझाई कछू मुसुकाई चली ॥
तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै अवलोकति लोचन-लाहु अली ।
अनुराग-तडाग में भानु उदै बिगसीं मनो मंजुल कंज-कली ॥७॥

बसन बटोरि बोरि बोरि तेल तमीचर,
　　खोरि खोरि धाइ आइ बाँधत लँगूर हैं।
तैसो कपि कौतुकी डरात ढीलो गात कै कै,
　　लात के अघात सहै जी में कहै 'कूर हैं'॥
बाल किलकारी कै कै, तारी दै दै गारी देत,
　　पाछे लागे बाजत निसान ढोल तूर हैं।
बालधी बढ़न लागी, ठौर ठौर दीन्हीं आगि,
　　बिंध की दवारि, कैधों कोटिसत सूर हैं॥ ८॥

लाइ लाइ आगि भागे बाल-जाल जहाँ तहाँ,
　　लघु ह्वै निबुकि गिरिमेरु तें बिसाल भो।
कौतुकी कपीस कूदि कनककँगूरा चढ़ि,
　　रावन भवन जाइ ठाढ़ो तेहि काल भो॥
तुलसी बिराज्यो व्योम बालधी पसारि भारी,
　　देखे हहरात भट काल तें कराल भो।
तेज को निधान मानो कोटिक कृसानु भानु,
　　नख बिकराल, मुख तैसो रिस-लाल भो॥ ९॥

बालधी बिसाल बिकराल, ज्वाल-जाल मानौं,
　　लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधौं व्योमबीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
　　बीररस बीर तरवारि सी उघारी है॥
तुलसी सुरेस-चाप, कैधौं दामिनी कलाप,

कैधौं चली मेरु तें कृसानु-सरि भारी है।
देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं
"कानन उजारयौ अब नगर प्रजारी है" ॥१०॥

जहाँ तहाँ बुबुक बिलोकि बुबुकारी देत,
"जरत निकेत धाओ धाओ लागि आगि रे।
कहाँ तात, मात, भ्रात, भगिनी, भामिनी, भाभी,
ढोटे छोटे छोहरा अभागे भोरे भागि रे॥
हाथी छोरो, घोरा छोरो, महिष वृषभ छोरो,
छेरी छोरो, सोवै सो जगावो जागि जागि रे"।
तुलसी बिलोकि अकुलानी जातुधानी कहैं,
"बार बार कह्यो पिय कपि सों न लागि रे" ॥११॥

देखि ज्वालजाल, हाहाकार दसकंध सुनि
कह्यो 'धरो धरो' धाए बीर बलवान हैं।
लिये सूल, सेल, पास, परिघ, प्रचंड दंड,
भाजन सनीर, धीर धरे धनुबान हैं॥
तुलसी समिध सौंज लंक-जज्ञकुंड लखि,
जातुधान पुंगीफल, जव, तिल, धान हैं।
स्रुवा सो लँगूल बलमूल, प्रतिकूल हवि
स्वाहा महा हांकि हांकि हुनै हनुमान हैं॥१२॥

हाट, बाट, कोट ओट, अट्टनि, अगार, पौरि,
खोरि खोरि दौरि दौरि दीन्ही अति आगि है।

आरत पुकारत, सँभारत न कोऊ काहू,
        ब्याकुल जहाँ सों तहाँ लोग चले भागि हैं ॥
बालधी फिरावै बार बार झहरावै, झरैं
        बूंदिया सी, लंक पघिलाइ पाग पागिहै ।
तुलसी बिलोकि अकुलानी जातुधानी कहैं
        "चित्रहू के कपि सों निसाचर न लागिहै" ॥१३॥

लपट कराल ज्वालजालमाल दहूँ दिसि,
        धूम अकुलाने पहिचानै कौन काहि रे ?
पानी को ललात बिललात, जरे गात जात,
        "परे पाइमाल जात, 'भ्रात ! तू निबाहि रे ॥
प्रिया तू पराहि, नाथ नाथ ! तू पराहि, बाप,
        बाप ! तू पराहि, पूत पूत ! तू पराहि, रे" ।
तुलसी बिलोकि लोग ब्याकुल बिहाल कहैं
        "लेहि दससीस अब बीस चख चाहि रे" ॥१४॥

रावन सो राजरोग बाढ़त बिराटउर,
        दिन दिन बिकल सकलसुखराँक सो ।
नाना उपचार करि हारे सुर सिद्ध मुनि,
        होत न बिसोक, ओत पावै न मनाक सो ॥
राम की रजाय तें रसायनी समीरसूनु
        उतरि पयोधिपार सोधि सरबाक सो ।
जातुधान बुट, पुटपाक लंक जातरूप;
        रतन जतन जारि कियो है मृगांक सो ॥१५॥

जारि बारि कै बिधूम, बारिधि बुताइ लूम,
नाइ माथो, पगनि भो ठाढ़ो कर जोरि कै।
"मातु! कृपा कीजै, सहदानि दीजै" सुनि सीय
दीन्हीं है असीस चारु चूड़ामनि छोरि कै॥
"कहा कहौं, तात! देखे जात ज्यों बिहात दिन,
बड़ी अवलंब ही सो चले तुम तोरि कै"।
तुलसी सनीर नैन, नेह सों सिथिल बैन,
बिकल बिलोकि कपि कहत निहोरि कै॥१६॥

गगन निहारि, किलकारी भारी सुनि,
हनुमान पहिचानि भये सानंद सचेत हैं।
बूड़त जहाज बच्यो पथिकसमाज, मानो
आजु जाये जानि सब अंकमाल देत हैं॥
'जै जै जानकीस, जै जै लषन कपीस' कहि
कूदैं कपि कौतुकी, नचत रेत रेत हैं।
अंगद मयंद नल नील बलसील महा,
बालधी फिरावैं, मुख नाना गति लेत हैं॥१७॥

आयो हनुमान प्रानहेतु, अंकमाल देत,
लेत पगधूरि एक चूमत लँगूल हैं।
एक बूझै बार बार सीय समाचार कहे,
पवनकुमार भो बिगतस्रमसूल हैं॥
एक भूखे जानि आगे आने कंद मूल फल
एक पूजे बाहुबल तोरि मूल फूल हैं।

एक कहैं तुलसी सकल सिधि ताके जाके
कृपानाथ सीतानाथ सानुकूल हैं ॥१८॥
'आयो आयो आयो सोई बानर बहोरि', भयो
सोर चहुँ ओर लंका आए जुबराज के।
एक काढै सौज, एक धौज करै कहा ह्वै है,
'पोच भई महा' सोच सुभट समाज के॥
गाज्यो कपिराज रघुराज की सपथ करि,
मूँदे कान जातुधान मानो गाजे गाज के।
सहमि सुखात बातजात की सुरति करि,
लवा ज्यों लुकात तुलसी झपेटे बाज के॥१९॥

घनाक्षरी

रोप्यो पाँव पैज कै बिचारि रघुबीरबल,
लागे भट सिमिटि न नेकु टसकतु
तज्यो धीर धरनि, धरनिधर धसकत,
धराधर धीर भार सहि न सकतु ॥
महाबली बालि को दबत दलकतु भूमि,
तुलसी उछरि सिंधु मेरु मसकतु है।
कमठ कठिन पीठि घठा परो मंदर को
आयो सोई काम पै, करेजो कसकतु

छप्पय

कतहुँ बिटप भूधर उपारि परसेन बरक्खत।
कतहुँ बाजि सों बाजि, मर्दि गजराज करक्खत॥

चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत।
बिकट कटक बिद्दरत बीर बारिद जिमि गज्जत॥
लँगूर लपेटत पटकि भट, 'जयति राम जय' उच्चरत।
तुलसीस पवननंदन अटल जुद्ध क्रुद्ध कौतुक करत॥ २१॥

सवैया

जाके बिलोकत लोकप होत बिसोक, लहैं सुरलोग सुठौरहि।
सो कमला तजि चंचलता करि कोटि कला रिझवै सुरमौरहि॥
ताको कहाय, कहै तुलसी, तू लजाहि न माँगत कूकुर कौरहि।
जानकीजीवन को जन ह्वै जरिजाउ सो जीह जो जाँचत औरहि॥२२॥

भलि भारतभूमि, भले कुल जन्म, समाज सरीर भलो लहि कै।
करषा तजि कै परुषा बरषा हिम मारुत घाम सदा सहि कै।
जो भजै भगवान सयान सोई तुलसी हठ चातक ज्यों गहि कै।
नतु और सबै विष बीज बये हर-हाटक कामदुहा नहि कै॥ २३॥

'झूठो है, झूठो है, झूठो सदा जग' संत कहंत जे अंत लहा है।
ताको सहै सठ संकट कोटिक, काढ़त दंत, करंत हहा है॥
जानपनी को गुमान बड़ो, तुलसी के बिचार गँवार महा है।
जानकीजीवन जान न जान्यो तौ जान कहावत जान्यो कहा है॥२४॥

काम से रूप, प्रताप दिनेस से, सोम से सील, गनेस से माने।
हरिचंद्र से साँचे, बड़े बिधि से, मघवा से महीप बिषै-सुखसाने॥
सुक से मुनि, सारद से बकता, चिरजीवन लोमस तें अधिकाने।
ऐसे भए तौ कहा तुलसी जु पै राजिवलोचन राम न जाने॥२५॥

झूमत द्वार अनेक मतंग जँजीर जरे मदअंबु चुचाते ।
तीखे तुरंग मनोगति चंचल, पौन के गौनहुँ तें बढ़ि जाते ॥
भीतर चंद्रमुखी अवलोकति, बाहर भूप खरे न समाते ।
ऐसे भए तौ कहा तुलसी जुपै जानकीनाथ के रंग न राते ॥२६॥
कानन, भूधर, बारि, बयारि, महाविष, व्याधि, दवा, अरि घेरे
संकट कोटि जहाँ तुलसी, सुत मातु पिता हित बंधु न नेरे ॥
राखिहैं राम कृपालु तहाँ, हनुमान से सेवक हैं जेहि केरे।
नाक, रसातल, भूतल में रघुनायक एक सहायक मेरे ॥२७॥

गीतावली

जब जब भवन बिलोकति सूनो ।
तब तब बिकल होति कौसल्या दिन दिन प्रति दुख दूनो ॥१॥
सुमिरत बाल-बिनोद राम के सुंदर मुनि-मन-हारी ।
होत हृदय अति सूल समुझि पदपंकज अजिर-बिहारी ॥२॥
को अब प्रात कलेऊ माँगत रूठि चलैगो, माई !
स्याम-तामरस-नैन स्रवत जल काहि लेउँ उर लाई ॥३॥
जीवों तौ बिपति सहौं निसिबासर मरौं तौ मन पछितायो ।
चलत बिपिन भरि नयन राम को बदन न देखन पायो ॥४॥
तुलसिदास यह दुसह दसा अति, दारुन बिरह घनेरो ।
दूरि करै को भूरि कृपा बिनु सोकजनित रुज मेरो ? ॥५॥

आरत बचन कहति बैदेही ।
बिलपति भूरि बिसूरि 'दूरि गए मृग सँग परम सनेही' ॥
कहे कटु बचन, रेख नाँघी मैं, तात छमा सो कीजै ।

देखि बधिक-बस राज मरालिनि लषन लाल छिनि लीजै ॥
बनदेवनि सिय कहन कहति यों छल करि नीच हरी हौं।
गोमर-कर सुरधेनु, नाथ! ज्यौं त्यौं पर-हाथ परी हौं ॥
तुलसिदास रघुनाथ-नाम-धुनि अकनि गीध धुकि धायो।
'पुत्रि पुत्रि! जनि डरहि, न जैहै नीचु? मीचु हौं आयो' ॥२॥

राग केदारा

भूषन बसन बिलोकत सिय के।
प्रेम-बिबस मन, कंप पुलक तनु,
नीरजनयन नीर भरे पिय के ॥
सकुचत कहत, सुमिरि उर उमगत,
सील सनेह सुगुनगन तिय के।
स्वामिदसा लखि लषन सखा कपि,
पिघले हैं आँच माठ मानो घिय के ॥
सोचत हानि मानि मन, गुनि, गुनि,
गये निघटि फल सकल सुकिय के।
बरने जामवंत तेहि अवसर,
बचन बिबेक बीररस बिय के ॥
धीर बीर सुनि समुझि परसपर,
बल उपाय उघटत निज हिय के ॥
तुलसिदास यह समउ कहे तें कबि,
लागत निपट निठुर जड़ जिय के ॥३॥

देखी जानकी जब जाइ।
परम धीर समीरसुत के प्रेम उर न समाइ॥
कृस सरीर सुभाय सोभित, लगी उड़ि उड़ि धूलि।
मनहुँ मनसिज मोहनी-मनि गयो भोरे भूलि॥
रटति निसि बासर निरंतर राम राजिवनैन।
जात निकट न बिरहिनी-अरि अकनि ताते बैन॥
नाथ के गुनगाथ कहि कपि दई मुँदरी डारि।
कथा सुनि उठि लई कर वर रुचिर नाम निहारि॥
हृदय हरष बिषाद अति पति-मुद्रिका पहिचानि।
दास तुलसी दसा सो केहि भाँति कहै बखानि? ॥४॥

कबहूँ, कपि! राघव आवहिंगे?।
मेरे नयन चकोर प्रीतिबस राकाससि मुख दिखरावहिंगे॥
मधुप मराल मोर चातक ह्वै लोचन बहु प्रकार धावहिंगे।
अंग अंग छबि भिन्न भिन्न सुख निरखि निरखि तहँ तहँ छावहिंगे॥
बिरह-अगिनि जरि रही लता ज्यों कृपादृष्टि-जल पलुहावहिंगे।
निज-वियोग-दुख जानि दयानिधि मधुर बचन कहि समुझावहिंगे॥
रावनबध रघुनाथ-बिमल-जस नारदादि मुनिजन गावहिंगे।
यह अभिलाष रैन दिन मेरे राज बिभीषन कब पावहिंगे॥
तुलसीदास प्रभु मोहजनित भ्रम भेद बुद्धि कब बिसरावहिंगे? ॥५॥

सत्य बचन सुनु मातु जानकी!।
जन के दुख रघुनाथ दुखित अति, सहज प्रकृति करुणानिधान की।
तुव वियोग-संभव दारुन दुख बिसरि गई महिमा सुबान की॥

नतु कहु कहँ रघुपति-सायक-रवि, तम-अनीक कहँ जातुधान की ॥
कहँ हम पसु साखामृग चंचल बात कहौं मैं विद्यमान की।
कहँ हरि सिव-अज-पूज्य ज्ञानघन नहिं बिसरति वह लगनि कान की।
तुव दरसन, सँदेस सुनि हरि को बहुत भई अवलंब प्रान की।
तुलसिदास गुन सुमिरि राम के प्रेम मगन नहिं सुधि अपान की ॥६॥

कपि के चलत सिय को मनु गहबरि आयो।
पुलक सिथिल भयो सरीर, नीर नयनन्हि छायो ॥
कहन चह्यो संदेस, नहिं कह्यो पिय के जिय की,
जानि हृदयदुसह दुख दुरायो ॥
देखि दसा ब्याकुल हरीस,
ग्रीष्म के पथिक ज्यों धरनि तरनि तायो ॥
मीचतें नीच लगी अमरता,
छल को न बल को निरखि थल परुष प्रेम पायो।
कै प्रबोध मातु प्रीति सों असीस
दीन्हीं ह्वै है तिहारोई मन भायो ॥
करुना कोप लाज भय भरो कियो गौन,
मौन हीं चरन-कमल सीस नायो।
यह सनेह-सरबस समौ तुलसीरसना
रूखी ताही तें परत गायो ॥ ७ ॥

तुम्हरे बिरह भई गति जौन।

चित दै सुनहु, राम करुनानिधि! जानौं कछु पै सकौं कहि हौं न।

लोचन-नीर कृपिन के धन ज्यों रहत निरंतर लोचन-कोन ।
'हा धुनि'-खगी लाज-पिंजरी महँ राखि हिये बड़े बधिक हठि मौन ।
जेहि बाटिका बसति तहँ खग मृग तजि तजि भजे पुरातन भौन ।
स्वास समीर भेंट भइ भोरेहुँ तेहि मग पगु न धर्यो तिहुँ पौन ।
तुलसिदास प्रभु ! दसा सीय की मुख करि कहत होति अति गौन ।
दीजै दरस दूरि कीजै दुख हौ तुम्ह आरत-आरति-दौन ॥ ८ ॥

कपि के सुनि कल कोमल बैन ।
प्रेम पुलकि सब गात सिथिल भए, भरे सलिल सरसीरुह नैन ।
सिय-बियोग-सागर नागर मनु बूड़न लग्यो सहित चित चैन ।
लही नाव पवनज प्रसन्नता, बरबस तहाँ गह्यो गुन मैन ।
सकत न बूझि कुसल, बूझे बिन गिरा बिपुल व्याकुल उर ऐन ।
ज्यों कुलीन सुचि सुमति बियोगिनि सनमुख सहै बिरह सर पैन ।
धरि धरि धीर बीर कोसलपति किए जतन सके उत्तरु दै न ।
तुलसिदास प्रभु सखा अनुज सों सैनहिं कह्यौ चलहु सजि सैन ॥९॥

राग मारू

जब रघुबीर पयानो कीन्हों ।
छुभित सिंधु, डगमगत महीधर, सजि सारँग कर लीन्हों ।
सुनि कठोर टंकोर घोर अति चौंके बिधि त्रिपुरारि ।
जटापटल ते चली सुरसरी सकत न संभु सँभारि ।
भए बिकल दिगपाल सकल, भय भरे भुवन दसचारि ।
खरभर लंक, ससंक दसानन, गर्भ स्रवहिं अरि-नारि ।

कटकटात भट भालु बिकट मरकट करि केहरि-नाद।
कूदत करि रघुनाथ-सपथ उपरी-उपरा बदि बाद।
गिरि-तरुधर नख मुख कराल रद कालहु करत बिषाद।
चले दस दिसि रिस भरि, धरु धरु कहि को बराक मनुजाद ?
पवन पंगु, पावक पतंग ससि दुरि गए, थके बिमान।
जाचत सुर निमेष सुरनायक नयन-भार अकुलान।
गए पूरि सर धूरि, भूरि भय अग थल जलधि समान।
नभ निसान हनुमान हाँक सुनि समुझत कोउ न अपान।
दिग्गज कमठ कोल सहसानन धरत धरनि धरि धीर।
बारहिं बार अमरषत करषत करकैं परीं सरीर।
चली चमू, चहुँ ओर सोर, कछु बनै न बरने भीर।
किलकिलात कसमसत कोलाहल होत नीरनिधि-तीर।
जातुधानपति जानि कालबस मिले बिभीषन आइ।
सरनागत-पालक कृपालु कियो तिलक, लियो अपनाइ।
कौतुकहीं बारिधि बँधाइ उतरे सुबेल तट जाइ।
तुलसिदास गढ़ देखि फिरे कपि प्रभु आगमन सुनाइ ॥१०॥

श्रीकृष्ण गीतावली

आजु उनींदे आए मुरारी।
आलसबंत सुभग लोचन सखि छिन मूँदत, छिन देत उघारी ॥
मनहुँ इँदु पर खंजरीट दोउ कछुक अरुन बिधि रचे सँवारी ॥
कुटिल अलक जनु मार फंद कर गहे सजग ह्वै रह्यो सँभारी ॥

मनहुँ उड़न चाहत अति चँचल पलक पंख छिन देत पसारी।
नासिक कीर, बचन पिक सुनि करि संगति मनु गुनि रहित बिचारी ॥
रुचिर कपोल, चारु कुंडल बर, भ्रुकुटि सरासन की अनुहारी।
परम चपल तेहि त्रास मनहुँ खग प्रगटत दुरत न मानत हारी ॥
जदुपति मुखछबि कलप कोटि लगि कहि न जाइ जाके मुख चारी।
तुलसिदास जेहि निरखि ग्वालिनी भजीं तात पति तनय बिसारी ॥

राग गौरी

गोपाल गोकुल बल्लभी प्रिय गोप गोसुत बल्लभं।
चरनारबिंदमहं भजे भजनीय सुर-मुनि-दुर्ल्लभं ॥
घनश्याम काम अनेक छबि, लोकाभिराम मनोहरं।
किंजल्क-बसन, किसोर मूरति, भूरि गुन करुनाकरं ॥
सिर केकि-पच्छ बिलोल कुंडल अरुन बनरुह-लोचनं।
गुंजावतंस बिचित्र, सब अँग धातु भवभय-मोचनं ॥
कच कुटिल, सुंदर तिलक भ्रू राका-मयंक-समाननं।
अपहरन तुलसीदास त्रास बिहार बृंदाकाननं ॥२॥

राग बिलावल

बिछुरत श्रीब्रजराज आजु इन नयनन की परतीति गई।
उड़ि न लगे हरि संग सहज तजि, ह्वै न गए सखि स्याममई ॥
रूपरसिक लालची कहावत, सो करनी कछु तौ न भई।
साँचेहु क्रूर कुटिल, सित मेचक, बृथा मीनछबि छीनि लई ॥
अब काहे सोचत मोचत जल, समय गए चित सूल नई।
तुलसिदास तब अपहुँ से भए जड़, जब पलकनि हठ दगा दई ॥३॥

राग सोरठ

ऊधो या ब्रज की दसा बिचारो।
ता पाछे यह सिद्धि आपनी जोगकथा बिस्तारो ॥
जा कारन पठए तुम माधव सो सोचहु मन माहीं।
केतिक बीच बिरह परमारथ जानत हौ किधौं नाहीं ? ॥
परम चतुर निज दास स्याम के संतत निकट रहत हौ।
जल बूड़त अवलंब फेन को फिरि फिरि कहा कहत हौ ?
वह अति ललित मनोहर आनन कौने जतन बिसारौं।
जोग जुगुति अरु मुकुति बिबिध बिधि वा मुरली पर वारौं।
जेहि उर बसत स्यामसुंदर घन तेहि निर्गुन कस आवै।
तुलसिदास सो भजन बहाओ जाहि दूसरो भावै ॥४॥

राग केदार

कबहुँक अँब अवसर पाई।
मेरिऔ सुधि द्यावबी कछु करुन-कथा चलाइ ॥
दीन सब अँगहीन छीन मलीन अघी अघाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ ॥
बूझिहैं 'सो है कौन' ? कहिबीं नाम दसा जनाइ।
सुनत रामकृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ ॥
जानकी जगजननि जन की किए बचन-सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव-नाथ-गुनगन गाइ ॥ १ ॥

राग विभास

जानकीस की कृपा जगावती, सुजान जीव!
जागि त्यागु मूढ़तानुरागु श्री हरे।
करु विचार, तजु विकार, भजु उदार रामचंद्र,
भद्रसिंधु दीनबंधु, बेद बदत, रे!
मोहमय कुहू-निसा बिसाल काल बिपुल सोयो,
खोयो सो अनूप रूप स्वप्न हू परे।
अब प्रभात प्रगट ज्ञान-भानु के प्रकास,
बासना-सरोग-मोह-द्वेष-निबिड़-तम टरे॥
भागे मद-मान-चोर भोर जानि जातुधान,
काम-क्रोध-लोभ-छोभ-निकर अपडरे।
देखत रघुबर-प्रताप बीते संताप पाप,
ताप त्रिबिध प्रेम-आप दूर ही करे।
स्रवन सुनि गिरा गँभीर जागे अति धीर,
बीर बर बिराग तोष सकल संत आदरे।
तुलसिदास प्रभु कृपालु निरखि जीवजन,
बिहालु भंज्यो भवजालु परम मंगलाचरे॥२॥

ऐसी मूढ़ता या मन की।

परिहरि रामभगति सुरसरिता आस करत ओसकन की॥
धूमसमूह निरखि चातक ज्यों तृषित जानि मति घन की।
नहिं तहँ सीतलता न बारि, पुनि हानि होति लोचन की॥

ज्यों गच-काँच बिलोकि सेन जड़ छाँह आपने तन की।
टूटत अति आतुर अहार बस छति बिसारि आनन की॥
कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि जानत हौ गति मन की।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की॥३॥

हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों।

साधन-धाम बिबुध-दुर्लभ तनु मोहि कृपा करि दीन्हों॥
कोटिहुँ मुख कहि जायँ न प्रभु के एक एक उपकार।
तदपि नाथ कछु और माँगिहौं दीजै परम उदार॥
बिषय-बारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।
तातें सहिय बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक॥
कृपा-डोरि, बंसी-पद-अंकुस, परम प्रेम-मृदु-चारो।
हिय बिधि बेधि हरहु मेरो दुख, कौतुक राम तिहारो॥
हैं स्रुति-बिदित उपाय सकल, सुर केहि केहि दीन निहोरै ?
तुलसिदास यहि जीव मोह-रजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै॥४॥

अब लौं नसानी अब न नसैहौं

रामकृपा भवनिसा सिरानी जागे फिर न डसैहौं॥
पायो नाम चारु चिंतामनि, उर-कर तें न खसैहौं।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहौं॥
परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मन-मधुकर पन करि तुलसी रघुपति-पद कमल बसैहौं॥५॥

केसव कहि न जाइ का कहिए ?
देखत तव रचना बिचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए ॥
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे ।
धोए मिटै न, मरै भीति-दुख, पाइय यहि तनु हेरे ।
रबिकर-नीर बसै अति दारुन मकररूप तेहि माहीं ।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं ॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै ।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै ॥६॥

हे हरि ! कस न हरहु भ्रम भारी ?
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी ॥
अर्थ अविद्यमान जानिय संसृति नहिं जाइ गोसाईं ।
बिनु बाँधे निज हठ सठ परबस पर्‌यो कीर की नाईं ॥
सपने व्याधि बिबिध बाधा भइ, मृत्यु उपस्थित आई ।
वैद्य अनेक उपाय करहिं, जागे बिनु पीर न जाई ॥
स्रुति-गुरु-साधु-सुमृति-संमत यह दृश्य सदा दुखकारी ।
तेहि बिनु तजे, भजे बिनु रघुपति बिपति सकै को टारी ?
बहु उपाय संसार-तरन कहँ बिमल गिरा श्रुति गावै ।
तुलसिदास 'मैं मोर' गए बिनु जिय सुख कबहुँ न पावै ॥७॥

राग सूहो बिलावल

राम सनेही सों तैं न सनेह कियो ।
अगम जो अमरनि हूँ सो तनु तोहिं दियो ॥

दियो सुकुल जनम सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को।
जो पाइ पंडित परमपद पावत पुरारि मुरारि को॥
यह भरतखंड समीप सुरसरि, थल-भलो, संगति भली।
तेरी कुमति कायर कलपबल्ली चहति है बिषफल फली॥१॥
अजहूँ समुझि चित्त दै सुनु परमारथ।
है हित सों जगहूँ जाहि तें स्वारथ॥

स्वारथहि प्रिय, स्वारथ सो काते, कौन बेद बखानई।
देखु खल अहिखेल परिहरि सो प्रभुहि पहिचानई॥
पितु, मातु, गुरु, स्वामी, अपनपो, तिय, तनय, सेवक, सखा।
प्रिय लगत जाके प्रेम सों बिनु हेतु हित नहिं तैं लखा॥२॥
दूरि न सो हितु हेरि हिये ही है।
छलहि छाँड़ि सुमिरे छोह किए ही है॥

किए छोह छाया कमल कर की भगत पर भजतहि भजै।
जगदीस जीवन जीव को जो साज सब सबको सजै॥
हरिहि हरिता बिधिहि बिधाता, सिवहि सिवता जो दई।
सोइ जानकी-पति मधुर मूरति मोदमय मंगलमई॥३।८॥

काज कहा नरतनु धरि सारथो ?
पर-उपकार सार श्रुति को जो सो धोखेहु न बिचारयो॥
द्वैत मूल, भय सूल, सोग फल, भवतरु टरै न टारयो।
राम-भजन तीछन कुठार लै सो नहिं काटि निवारयो॥
संसय-सिंधु नाम-बोहित भजि, निज आतमा न तारयो।

जनम अनेक बिबेकहीन बहु जोनि भ्रमत नहिं हारयो ।।
देखि आन की सहज संपदा द्वेष-अनल मन जारयो ।
सम दम दया दीन-पालन सीतल हिय हरि न सँभारयो ।।
प्रभु गुरु पिता सखा रघुपति तैं मन क्रम बचन बिसारयो ।
तुलसिदास एहि त्रास सरन राखिहि जेहि गीध उधारयो ।।१९।।

राग कल्यान

ऐसी कौन प्रभु की रीति ।
बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति ।।
गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ ।
मातु की गति दई ताहि कृपालु जादवराइ ।।
काम-मोहित गोपिकनि पर कृपा अतुलित कीन्ह ।
जगतपिता बिरंचि जिन्हके चरन की रज लीन्ह ।।
नेम तें सिसुपाल दिन प्रति देत गनि गनि गारि ।
कियो लीन सु आपु में हरि राजसभा मँझारि ।।
ब्याध चित दै चरन मारयो मूढ़मति मृग जानि ।
सो सदेह सुलोक पठयो प्रगट करि निज बानि ।।
कौन तिन्ह की कहै जिन्ह के सुकृत अरु अघ दोउ ।
प्रगट पातक-रूप तुलसी सरन राख्यो सोउ ।।२०।।

कबहिं देखाइहौ हरि चरन ?
समन सकल कलेस कलिमल, सकल-मंगल-करन ।।
सरदभव सुंदर तरुनतर अरुन बारिज-बरन ।।

लच्छि लालित ललित करतल छबि अनूपम धरन
गंग-जनक, अनंग-अरि-प्रिय, कपटु बटु बलि-छरन।
बिप्रतिय, नृग, बधिक के दुख दोष दारुन दरन॥
सिद्ध-सुर-मुनि-वृन्द-बंदित सुखद सब कहँ सरन।
सकृत उर आनत जिनहिं जन होत तारनतरन॥
कृपासिंधु सुजान रघुबर प्रनत-आरति-हरन।
दरस-आस-पियास तुलसीदास चाहत मरन॥११॥

काहे न रसना रामहिं गावहि ?

निसि दिन पर-अपवाद वृथा कत रटि रटि राग बढ़ावहि॥
नरमुख सुंदर मंदिर पावन बसि जनि ताहि लजावहि।
ससि समीप रहि त्यागि सुधा कत रबिकर-जल कहँ धावहि ?
काम-कथा कलि-कैरव-चंदिनि सुनत स्रवन दै भावहि।
तिनहिं हटकि कहि हरि-कल-कीरति करन-कलंक नसावहि॥
जातरूप मति जुगुति रुचिर मनि रचि रचि हार बनावहि।
सरन-सुखद रबिकुल-सरोज-रबि राम नृपहि पहिरावहि॥
बाद-बिबाद-स्वाद तजि भजि हरि सरस चरित चित लावहि।
तुलसिदास भव तरहि, तिहूँ पुर तू पुनीत जस पावहि॥१२

अब्दुलरहीम (खानखाना)

रहीम

भक्ति-काल के अन्त की ओर कृष्ण-भक्ति की कविता की उन्नति के साथ साथ अन्य फुटकर विषयों में भी कविता होने लगी थी। कुछ विषयों की कविता का विकास अकबर के प्रोत्साहन से उनके दरबारी कवियों के द्वारा हुआ। इन विषयों में नीति और शृङ्गार प्रधान थे। इन विषयों पर कविता करने वाले कवियों में रहीम प्रधान थे। ये इस वर्ग के कवियों के प्रतिनिधि कवि थे।

ये प्रसिद्ध मुग़ल-सरदार बैरमखाँ के पुत्र थे। इनका पूरा नाम अब्दुलरहीम ख़ानख़ाना था। ये अकबर के प्रधान सेनापति, मंत्री और दरबार के नवरत्नों में से थे। ये संस्कृत, अरबी, फ़ारसी के उच्च कोटि के विद्वान् और हिन्दी-काव्य के मर्मज्ञ थे। इनकी कविता में कृष्ण के प्रति विशुद्ध प्रेम की झलक दिखाई देती है। इनके नीति के दोहे बड़े मार्मिक ढंग के हैं। गोस्वामी तुलसीदास की भाँति रहीम का अवधी और व्रज-भाषा पर समान अधिकार था। इनकी रचनाओं का प्रचार भी अच्छा हुआ। गोस्वामी तुलसीदास से इनकी भेंट हुई थी, और दोनों में सौहार्द भी था। यद्यपि इनके दोहे अधिक प्रसिद्ध हैं, पर इन्होंने बरवै, कवित्त, सवैया, सोरठा, पद इत्यादि छन्दों में भी थोड़ी बहुत रचना की है।

हिन्दी के इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ, रहीमदोहावली (या सतसई), बरवै, नायिकाभेद, शृङ्गारसोरठा, मदनाष्टक और रासपंचाध्यायी हैं। इनकी मिश्रित रचनाएँ, 'रहीमकाव्य' और 'खेट-कौतुकम्' हैं। पहले ग्रन्थ में हिन्दी-संस्कृत की खिचड़ी है और दूसरे में संस्कृत-फ़ारसी की। इन्होंने कुछ संस्कृत के श्लोक भी बनाए हैं। इन्होंने फ़ारसी का एक दीवान रचा और "वाक़यात बाबरी" का तुर्की से फ़ारसी में अनुवाद किया।

अपनी दानशीलता के कारण ये अपने समय के कर्ण माने जाते थे। गंग-कवि को एक बार छत्तीस लाख रुपये पुरस्कार में दिए थे। इनका स्वभाव सरल और दयापूर्ण था। कहा जाता है कि जीवन भर इन्होंने कभी क्रोध नहीं किया। सं० १६८२ में इनका देहावसान हुआ।

रहीम के दोहे

'रहिमन' बात अगम्य कै, कहन सुनन कै नाहिं।
जो जानत सो कहत नहिं, कहत सो जानत नाहिं॥ १॥

अमरबेलि बिनु मूल की, प्रतिपालत जो ताहि।
'रहिमन' ऐसे प्रभुहिं तजि, खोजत फिरिये काहि॥ २॥

काम न काहू आवहीं, मोल रहीम न लेइ।
बाजू टूटै बाज कौं, साहेब चारा देइ॥ ३॥

'रहिमन' बहु भेषज करत, व्याधि न छाँड़ति साथ।
खग मृग बसत अरोग बन, हरि अनाथ के नाथ॥ ४॥

'रहिमन' राम न उर धरै, रहत विषय लपटाइ।
पसु खरि खात सवाद सों, गुरगुलिया ये खाइ॥ ५॥

माँगे मुकुरि न को गयो, केहि न त्यागियो साथ।
माँगत आगे सुख लह्यो, ते 'रहीम' रघुनाथ॥ ६॥

कमला थिर न 'रहीम' कह, यह जानत सब कोइ।
पुरुष पुरातन की वधू, क्यों न चंचला होइ॥ ७॥

'रहिमन' जेहि के बाप कर, पानी पियत न कोइ।
तेहि कै गइल अकास लौं क्यों न कालिमा होइ॥ ८॥
आप अहै तो हरि नहीं हरि तो आपन नाहिं।
रहिमन गलि हैं साँकरी दोनों नहिं ठहराहिं॥ ९॥
भजउँ तो काको मैं भजउँ, तजउँ तो को है आन।
भजन तजन ते बिलग है तेहि रहीम तू जान॥ १०॥
पर रहबो मरबो भलो, सहिबो कठिन कलेश।
बावन हुइ बलि कौं छल्यौ, भल दीन्हेउ उपदेश॥ ११॥
हरि 'रहीम' ऐसी करी, ज्यों कमान सरपूर।
खैंचि आपनी ओर को, डारि दियो पुनि दूर॥ १२॥
ज्यों 'रहीम' इक दीप ते, प्रकट सबै निधि होय।
तनु सनेह कैसे दुरै, दृग दीपक जहँ दोय॥ १३॥
जो 'रहीम' तनु हाथ है, मनसा कहुँ किन जाहिं।
जल में ज्यों छाया परै, काया भीजत नाहिं॥ १४॥
चरन छुए मस्तक छुए, तऊ न छाड़ति पानि।
हिये छुवत प्रभु छाड़िदे, कहु 'रहीम' का जानि॥ १५॥
आवत काज 'रहीम' कहि, गाढ़े बन्धु सनेह।
जीरन होतहिं पेड़ ज्यों, थामैं बरहिं बरेह॥ १६॥
'रहिमन' अपने गोत कहँ, सबै चहत उत्साह।
मृग उछरत आकास कहँ, भूमि खनत बाराह॥ १७॥
नाद रीझ तन देत मृग, नर धन देत लुटाय।
वहि पसु यहि मानुष कहैं क्यों 'रहीम' कहि जाय॥ १८॥

'रहिमन' दानि दरिद्रतर, तऊ जाँचिबे जोग।
ज्यों सरितन सूखा परे, कुआ खनावत लोग॥ १६ ॥
मान सहित विष खाइकै, संभु भये जगदीस।
बिना मान अमृत पियो, राहु कटायो सीस॥ २० ॥
'रहिमन' रहिला की भली, जो परसै चित लाइ।
परसत मन मैला करै, सो मैदा जरि जाइ॥ २१ ॥
'रहिमन' पानी राखिये, बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरे, मोती मानुष चून॥ २२ ॥
'रहिमन' अँसुवा नैन ढरि, जिय दुख प्रगट करेइ।
जाको घर ते काढ़िये, क्यों न भेद कहि देइ॥ २३ ॥
'रहिमन' कठिन कुम्हार ज्यों, करि डारै दुइ टूक।
चतुरन के कसकत रहै, समय चूक कै हूक॥ २४ ॥
मानसरोवर ही मिलै, हंसनि मुकता भोग।
सफरिन भरे 'रहीम' सर, बक बालकनहिं जोग॥ २५ ॥
'रहिमन' राज सराहिये, ससि सम सुखद जो होइ।
कहा बापुरो भानु है, तपै तरैयन खोइ॥ २६ ॥
मीन काटि जल धोइये, खाये अधिक पियास।
'रहिमन' प्रीति सराहिये, मुयेउ नीर कै आस॥ २७ ॥
जलहिं मिलाइ 'रहीम' ज्यों, कियो आप सम छीर।
अँगवइ आपुहि आपु लखि, सकल आँच की भीर॥ २८ ॥
'रहिमन' वहाँ न जाइये, जहाँ कपट कर हेत।
हम तन ढारत ढेकुली, सींचत आपन खेत॥ २६ ॥

दादुर मोर किसान मन, लगो रहै घन माहिं।
पै 'रहीम' चातक रहनि, सरवर कै कोउ नाहिं ॥ ३० ॥

मन्दन के मारेहु गये, औगुन गुनब सिराहिं।
ज्यों 'रहीम' बाँधहु बधे, मुरहा ह्वै अधिकाहिं ॥ ३१ ॥

'रहिमन' चाक कुम्हार कर, माँगे दिया न देइ।
छेद में डंडा डारिकै, चहै नाँद लइ लेइ ॥ ३२ ॥

'रहिमन' कठिन चिताहु ते, चिन्ता कहँ चित चेत।
चिता दहति निर्जीव कहँ, चिन्ता जीव समेत ॥ ३३ ॥

खंड न बौड़ 'रहीम' कह, देखि सचिक्कन पान।
हस्ती ढक्का कुल्हड़िन, सहैं ते तरुवर आन ॥ ३४ ॥

जो 'रहीम' गति दीप की, कुल कपूत कै सोइ।
बारे उजियारो करै, बढ़े अँधेरो होइ ॥ ३५ ॥

'रहिमन' करि सम बल नहीं, मानत प्रभु कै धाक।
दाँत दिखावत दीन हुइ, चलत घिसावत नाक ॥ ३६ ॥

छार उछारत सीस पर, कहु 'रहीम' केहि काज।
जेहि रज मुनिपतनी तरी, तेहि खोजत गजराज ॥ ३७ ॥

जेहि नभ सर-पंजर कियो, 'रहिमन' बल अवशेष।
सो अर्जुन बैराट घर, रहे नारि के भेष ॥ ३८ ॥

लिखी 'रहीम' लिलार में, भई आइ कै आन।
पद कर काटि बनारसी, पहुँचे मगहर थान ॥ ३६ ॥

भावी या उनमानि कै, पाँडव बनह रहीम।
जदपि गौरि सुनि बाँझ है, उल्है संभु अजीम ॥ ४० ।

सरवर के खग एकसे, प्रीति बाढ़ि नहिं धीम।
पै मराल के मानसर, एकै ठौर 'रहीम' ॥ ४१ ॥

सीत हरत तम हरत नित, भुवन भरत नहिं चूक।
'रहिमन' तेहि रविकर कहा, जो घटि लखै उलूक ॥ ४२ ॥

बिन्दु में सिन्धु समान, को कासों अचरजु कहै।
हेरनहार हेरान, 'रहिमन' आपुहि आप में ॥ ४३ ॥

केशवदास

केशवदास

केशवदास के जन्म समय में, विजयी मुसलमानों के प्रोत्साहन से अनेक फुटकर विषयों पर—विशेष कर नीति और शृङ्गार पर कवितायें लिखी जा रही थीं। भक्त-कवि विशेष रूप से साहित्य की श्रीवृद्धि कर ही चुके थे। इस समय कुछ लोगों का ध्यान भाषा और भावों को अलंकृत करने की ओर था। अनेक काव्य-ग्रन्थों की उपस्थिति में 'लक्षण-ग्रंथ' का अभाव खटकने वाला था। केशवदास ने साहित्य के इस अंग की पूर्त्ति का श्रेय सबसे पहले प्राप्त किया। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम काशीनाथ था। इनका जन्म सं० १६१२ में ओड़छा रियासत में हुआ। वहीं राज्य का आश्रय पाकर इन्होंने कविता की। इस दरबार में इनका बड़ा सम्मान था।

अपनी काव्य-कुशलता के द्वारा अकबर से, ओड़छा-नरेश के भाई इन्द्रजीतसिंह पर किया हुआ एक करोड़ का जुरमाना, माफ़ करा लिया था। महाराज बीरबल ने इन्हें एक छन्द पर ६ लाख रुपये दिए थे। वह छन्द यह है।

"केशवदास के भाल लिख्यो विधि रंक को अंक बनाय सँवार्‌यो।
धोये धुवे नहिं छूटे छुटै बहु तीरथ जायके नीर पखार्‌यो।
ह्वै गयो रंक ते राव तबै जब बीरबली नृपनाथ निहार्‌यो।
भूलि गयो जग की रचना चतुरानन बाय रह्यो मुख चा यो।

(दोहा)

देव, अदेव, नृदेव घर, पावन थल समुदाय।
बिनु बोले आनन्दमति, कुत्सित जीव न जाय ॥५॥

(दोधक छन्द)

राज सभा महँ स्वान बोलायो। रामहिं देखत ही सिर नायो।
राम कह्यो जो कछू दुख तेरे। स्वान ! निसंक कहौ पुर मेरे ॥६॥

(स्वान)

तुम हौ सरवज्ञ सदा सुखदाई। अरु हौ सब को समरूप सदाई।
जग सोवत है जगतीपति जागे। अपने अपने सब मारग लागे ॥७॥
नरदेवन पाप परै परजा को। निशिबासर होय न रक्षक ताको।
गुण दोषन को जब होय न दर्शी। तबही नृप होय निरै पदपर्शी ॥८

(दोहा)

निज स्वारथ ही सिद्धि द्विज, मोकों करयो प्रहार।
बिन अपराध अगाधमति, ताको कहा विचार ॥९॥

(तोटक छन्द)

तब ताकहँ लेन गये जन धाये। तबहीं नगरी महँ ते गहि लाये।

(राम)

यहि कूकर क्यों बिन दोषहिं मारयो।
अपने जिय त्रास कछू न बिचारयो ॥१०॥

(ब्राह्मण)—दोहा

यह सोवत हो पंथ में, हौं भोजन को जात।
मैं अकुलाय अगाधमति, याको कीन्हों घात ॥११॥

(राम)—स्वागत छन्द

ब्रह्म ब्रह्मऋषिराज बखानो। धर्म कर्म बहुधा तुम जानो।
कौन दंड द्विज को अब दीजै। चित्त चेति कहिये सोइ कीजै ॥१२॥

(कश्यप)

है अदंड भुवदेव सदाई। यत्र तत्र सुनिये रघुराई।
ईश सीख अब या कहँ दीजै। चूक हीन अरि कोउ न कीजै ॥१३॥

(राम)—तोमर छन्द

सुनि स्वान! कहि तू दंड। हम देहिं याहि अखंड।
कहि बात तू डर डारि। जिय मध्य आपु विचारि ॥ १४ ॥

(स्वान)—दोहा

मेरे भायो करहु जो, रामचन्द्र हित माँड़ि।
कीजै द्विज यहि मठपती, और दंड सब छाँड़ि ॥ १५ ॥

निशिपाल छन्द

पीत पहिराय पट बाँधि सिरसों पटी।
बोरि अनुराग अरु जोरि बहुधा गटी ॥
पूजि परि पायँ मठु ताहि तबहीं दयो।
भक्त गजराज चढ़ि विप्र मठ को गयो ॥ १६ ॥

फुटकर

(१)

विप्र न नेगी कीजिये, मूढ़ न कीजे मित्त।
प्रभु न कृतघ्नी सेइये, दूषण सहित कवित्त ॥

(२)

पंडित पुत्र, सुधी पतिनी जु पतिव्रत प्रेम परायन भारी।
जानै सबै गुण, मानै सबै जग, दान विधान दया उर धारी॥
केशव रोगनही सो वियोग, संयोग सुभोगन सो सुखकारी।
साँच कहै, जग माहँ लहै यश, मुक्ति यहै चहुँ वेद विचारी॥

(३)

धिक मंगन बिन गुणहिं गुण सु धिक सुनत न रीझिय।
रीझ सु धिक बिन मौज मौज धिक देत सु खीझिय॥
दीबो धिक बिन साँच साँच धिक धर्म न भावै।
धर्म सु धिक बिन दया दया धिक अरि कहँ आवै॥
अरि धिक चित्त न सालई, चित धिक जहँ न उदार मति।
मति धिक केशव ज्ञान बिनु ज्ञान सु धिक बिनु हरिभगति॥

(४)

लूटिबे के नाते पाप पट्टनै तौ लूटियत, तोरिबे को मोह तरु तोरि डारियतु है। घालिबे के नाते गर्व घालियत देवन के, जारिये के नाते अघ ओघ जारियतु है। बाँधिवे के नाते ताल बाँधियत केशोदास, मारिबे के नाते तौ दरिद्र मारियतु है। राजा रामचन्द्र जूके नाम जग जीतियतु, हारिबे के नाते आन जन्म हारियतु है।

बिहारीलाल

बिहारीलाल

राजाओं के दरबारों में हिन्दी-कविता के प्रोत्साहन का एक परिणाम यह हुआ कि भक्ति काव्य के स्थान पर शृंगाररस की कविता का प्रचार बढ़ा। राजा लोग प्रायः विलासप्रिय थे। अतः उनकी रुचि के अनुसार कृष्ण और गोपियों की आड़ में उनके आश्रयजीवी कवियों ने सांसारिक प्रेम का वर्णन किया। जनता में भी ऐसी कविताओं का आदर होता था। इसका परिणाम यह हुआ कि रीतिकाल की कविता शृंगार-रसमयी हो गई। ऐसे समय में बिहारी का प्रादुर्भाव हुआ और उन्होंने इसी प्रचलित मार्ग को अपनाकर उसे पुष्ट किया।

इनका जन्म सं० १६६० के लगभग चौबे ब्राह्मण-वंश में ग्वालियर के निकट हुआ। ये जयपुर के महाराजा जयसिंह (बड़े) के दरबारी कवि थे, और दरबार में इनका बड़ा सम्मान था। दरबार से इन्हें प्रत्येक दोहे के लिए एक मोहर पुरस्कार में मिलती थी।

ये रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इनका केवल एक ही ग्रन्थ मिलता है जो 'बिहारी-सतसई' के नाम से प्रसिद्ध है। ग्रन्थ ब्रजभाषा में लिखा गया है। इसमें ७१९ दोहे हैं। दोहों में अनेक और भिन्न भिन्न विषय हैं, अतः यह मुक्तक काव्य-ग्रन्थ है।

अधिकांश दोहे शृंगार-रस-सम्बंधी हैं। कुछ दोहों में नीति और

वैराग्य का भी विषय है। छोटे से दोहे में बड़े बड़े भावों को सुचारु रूप से व्यक्त करना बिहारी की प्रतिभा और भाषा-पांडित्य का द्योतक है। इस काम में बिहारी बहुत निपुण सिद्ध हुए हैं। साधारण-सी बात बहुत मार्मिक ढंग से कहने में ये पटु हैं। इन्होंने उर्दू, फ़ारसी आदि भाषाओं के शब्दों का यत्र-तत्र प्रयोग किया है। शृंगाररस के ग्रन्थों में जितनी ख्याति इनकी 'सतसई' की हुई, उतनी और किसी की नहीं। इनका एक एक दोहा साहित्य में रत्न माना जाता है। इस ग्रन्थ की अनेक टीकाओं में से ४–५ बहुत प्रसिद्ध हैं।

इसकी सबसे उत्तम टीका बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की 'रत्नाकरी टीका' है। बिहारीसतसई में व्यंजना का चमत्कार और अलंकारों के प्रयोग में निपुणता जगह जगह पर दिखाई देती है। शोभा, सुकुमारता और विरह के वर्णनों में इन्होंने बड़ा ही चमत्कार दिखाया है।

यद्यपि इनके अनेक दोहे "आर्या सप्तशती" और "गाथा सप्तशती" के पद्यों के भावों के आधार पर बने हैं, तथापि बिहारी ने उन भावों में नवीन चमत्कार उत्पन्न करके अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है।

बिहारी के दोहे

मेरी भवबाधा हरो, राधा नागरि सोय।
जा तनु की झाईं परे, श्याम हरित दुति होय ॥ १ ॥
मकराकृत गोपाल के, कुंडल सोहत कान।
धँस्यो मनो हिय-घर समर, ड्योढ़ी लसत निसान ॥ २ ॥
अधर धरत हरि के परति, ओठ दीठि पट-जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्रधनुष रँग होति ॥ ३ ॥
अलि इन लोयन को कछू, उपजी बड़ी बलाय।
नीर भरे नित प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाय ॥ ४ ॥
इन दुखिया अँखियान कों, सुख सिरजोई नाहिं।
देखत बनै न देखते, बिन देखे अकुलाहिं ॥ ५ ॥
जो चाहत चटक न घटे, मैलो होय न मित्त।
रज राजस न छुवाइये, नेह चीकने चित्त ॥ ६ ॥
बेसरि मोती दुति झलक, परी ओठ पर आय।
चूनो होय न चतुर तिय, क्यों पट पोंछो जाय ॥ ७ ॥

अजौं तरयो ना हीं रह्यो, श्रुति सेवत इक अंग।
नाक-बास बेसर लह्यो, बसि मुकतन के संग ॥ ८ ॥
दीने दई गुलाब के इन डारन वे फूल।
को कहि सकै बड़ेन सों, लखे बड़ी यों भूल ॥ ९ ॥
गिरितें ऊँचे रसिक मन, बूड़े जहाँ हजार।
वहै सदा पसु नरन को, प्रेम-पयोधि पगार ॥ १० ॥
इहि आशा अटक्यो रहै, अलि गुलाब के मूल।
बहुरि बसन्त ऋतु, इन डारन वे फूल ॥ ११ ॥
इक भीजे चहले परे, बूड़े बहे हजार।
किते न औगुन जग करै, नै बै चढ़ती बार ॥ १२ ॥
छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यो जोबन अंग।
दीपति देह दुहून मिलि, दिपति ताफ़ता रंग ॥ १३ ॥
अपनी गरजन बोलियत, कहा निहोरो तोहि।
तू प्यारो मो जीय को, मो जिय प्यारो मोहि ॥ १४ ॥
रंच न लखियत पहिरिबो, कंचन से तन बाल।
कुम्हिलानी जानी परति, उर चंपे की माल ॥ १५ ॥
सघन कुंज घन घन तिमिर अधिक अँधेरी राति।
तऊ न दुरि है स्याम यह, दीप सिखा सी जाति ॥ १६ ॥
दृग अरुझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हिये, दई नई यह रीति ॥ १७ ॥
छतौ नेह कागद हिये, भई लखाइ न टांक।
बिरह तचे उघरयो सु अब, सेहुँड़ कैसो आंक ॥ १८ ॥

औंधाई सीसी सु लखि, बिरह बरति बिललात।
बीचहिं सूखि गुलाब गो, छींटौ छुयो न गात॥ १९॥
तो लगि या मन सदन में, हरि आवें केहि बाट।
बिकट जड़े जौ लौं निपट, खुलें न कपट कपाट॥ २०॥
मानहुँ बिधि तन अच्छ छवि, स्वच्छ राखिबे काज।
दृग पग पोंछन कों कियो, भूषन पायनदाज॥ २१॥
जब जब वे सुधि कीजिये, तब तब सब सुधि जाहिं।
आँखिन आँख लगी रहैं, आँखैं जागति नाहिं॥ २२॥
सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मन्द समीर।
मन ह्वै जात अजौं वही, वा जमुना के तीर॥ २३॥
फिर घर को नूतन पथिक, चले चकितचित भागि।
फूल्यो देखि पलास बन, समुहैं समुझि दवागि॥ २४॥
कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोबन सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ॥ २५॥
प्यासे दुपहर जेठ के, थके सबै जल सोधि।
मरुधर होय मतीरहू, मारू कहत पयोधि॥ २६॥
अरुन सरोरुह कर चरन, दृग खंजन मुख चंद।
समय पाय सुन्दर शरद, केहि न करत आनंद॥ २७॥
जगत जनायो जिहिं सकल, सो हरि जान्यो नाहिं।
ज्यों आँखिन सब देखिये, आँख न देखी जाहिं॥ २८॥
मीत न नीति गलीत है, जो धरिये धन जोरि।
खाये खरचे जो बचे, तो जोरिये करोरि॥ २९॥

दुसह दुराज प्रजान में, क्यों न बढ़ै दुख द्वन्द।
अधिक अँधेरो जग करत, मिलि मावस रबि चन्द ॥ ३० ॥

पट पाँखें भख कांकरे, सदा परेई संग।
सुखी परेवा जगत में, एकै तुही विहंग ॥ ३१ ॥

भूख प्यास पिंजरा पर्यो, सुआ समय के फेर।
आदर दै दै बोलियतु, बायस बलि की बेर ॥ ३२ ॥

नहिं पावस ऋतुराज यह, तज तरुवर मति भूल।
अपत भये बिन पाइहै, क्यों नव दल फल फूल ॥ ३३ ॥

कनक कनक तैं सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वहि खाये बौराय जग, यह पाये बौराय ॥ ३४ ॥

बहु धन ले अहसान कै, पारो देत सराहि।
बैद बधू हँसि भेद सों, रही नाय मुख चाहि ॥ ३५ ॥

अनुरागी या चित्त की, गति समझै नहिं कोय।
ज्यों ज्यों बूड़ै श्याम रँग, त्यों त्यों उज्ज्वल होय ॥ ३६ ॥

दीरघ साँस न लेइ दुख, सुख साँई मति भूल।
दई दई क्यों करत है, दई दई सो कबूल ॥ ३७ ॥

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखत के छोटे लगैं, घाव करैं गम्भीर ॥ ३८ ॥

लाज लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ये मुँह जोर तुरँग लौं, ऐंचत हूँ चलि जाहिं ॥ ३९ ॥

छूवै छिगुनी पहुँच्यो गहत, अति दीनता दिखाय।
बलि बावन को ब्यौंत सुनि, को बलि तुम्हैं पत्याय ॥ ४० ॥

सूर उदित हू मुदित मन, मुख-सुखमा की ओर ।
चितै रहै चहुँ ओर तें, निहचल चखन चकोर ।। ४१ ।।
छप्यौ छबीली मुख लसै, नीले अंचल चीर ।
मनौ कलानिधि झलमलै, कालिंदी के नीर ।। ४२ ।।
जोग जुगति सिखए सबै, मनो महा मुनि मैन ।
चाहत पिय अद्वैतता, सेवत कानन नैन ।। ४३ ।।
अरी खरी सट पट परी, बिधु आधे मग हेरि ।
संग लगे मधुपन लई, भागनु गली अँधेरि ।। ४४ ।।
जिहि निदाघ दुपहर भई, रहति माघ की राति ।
तिहि उसीर की रावटी, खरी आवटी जाति ।। ४५ ।।
बिकसत नवमल्ली कुसुम, निकसत परिमल पाय ।
परसि जारत बिरह तन, बरसि रहे की बाय ।। ४६ ।।
रनित भृङ्ग घंटावली, झरत दान मधुनीर ।
मंद मंद आवत चल्यो, कुंजर कुंज समीर ।। ४७ ।।
मोर मुकुट की चन्द्रकनि, यों राजत नँदनंद ।
मनु ससि सेखर की अकस, किय सेखर सतचंद ।। ४८ ।।

महाकवि भूषण

भूषण रीतिकाल के कवि थे। ये बड़े प्रतिभाशाली और वीर थे। पर उस काल के और कवियों से इन में विशेषता यह है कि इन्होंने शृंगार-रस न लेकर वीररस लिया। अपने अलंकार के ग्रंथ 'शिवराज-भूषण' में इन्होंने शिवाजी की वीरता व्यक्त करने वाले वीररस के ही उदाहरण दिये हैं। ये हिन्दुओं के जातीय कवि थे।

भूषण वीररस की कविता के लिए प्रसिद्ध है। वास्तव में ऐसी फड़कती हुई और वीरता की उमंग भर देने वाली कविता बहुत कम मिलती है। भूषण ने वीररस-वर्णन में बड़ी ही परिमार्जित रुचि का परिचय दिया है। उनकी कविता के लोकग्राह्य होने का बड़ा भारी कारण यह है कि उन्होंने शिवाजी ऐसा नायक चुना, जो औरंगजेब के अत्याचारों से जनता की रक्षा करनेवाला और अन्याय का दमन करनेवाला प्रसिद्ध है। भूषण ने औरंगजेब को अन्यायी और अत्याचारी मानकर प्रतिनायक बनाया है, अपने आश्रयदाता का शत्रु या अन्य धर्मावलंबी मानकर नहीं। महाकवि भूषण ने शिवाजी को राम कृष्ण तथा शिव के रूप में प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न किया।

भूषण के तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—शिवराज-भूषण, शिवाबावनी और छत्रसाल दशक। इनके अतिरिक्त बहुत-से फुटकर छन्द भी मिलते हैं। कई ग्रंथ अप्राप्त हैं।

—:o:—

वीररस के कवित्त

मनहरण दंडक

गरुड़ को दावा जैसे नाग के समूह पर,
दावा नागजूह पर सिंह सिरताज को
दावा पुरहूत को पहाड़न के कूल पर,
दावा सब पच्छिन के गोल पर बाज को ॥
भूषन अखण्ड नवखण्ड महिमण्डल में,
तम पर दावा रवि-किरन समाज को ।
पूरब पछाँह देस दच्छिन से उत्तर लों,
जहाँ पातसाही तहाँ दावा सिवराज को ।

[२]

साजि चतुरंग सेन अंग में उमंग धरि,
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत है ।
भूषन भनत नाद बिहद नगारन के,

नदी नद मद गैवरन के रलत है ॥

ऐल फैल खैल भैल खलक में गैल गैल,

गजन की ठेलपेल सैल उसलत है ।

तारा सो तरनि धूरि-धारा मैं लगत जिमि,

थारा पर पारा पारावार यों हलत है ॥

[३]

राना भौ चंतकी और बेला सब राजा भए

ठौर-ठौर रस लेत नित यह काज है ।

सिगरे अमीर भए कुंद मकरंद भरे

भृङ्ग सो भ्रमत लखि फूल की समाज है ॥

भूषन भनत सिवराज देसदेसन की

राखी है बटोरि एक दच्छिन में लाज है ।

त्यागे सदा षटपद-पद अनुमान यहै

अलि औरंगजेब चंपा सिवराज है ॥

[४]

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार दिल्ली दहसति चितै चाह करषति है। बिलखि बदन बिलखात बिजैपुर पति फिरत फिरंगिन की नारी फरकति है ॥ थर थर काँपत कुतुबशाह गोलकुण्डा हहरि हबस भूप भीर भरकति है। राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि केते बादसाहन की छाती दरकति है ॥

[५]

राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान को तिलक राख्यो अस्मृति पुरान राखे वेद विधि सुनी मैं। राखी रजपूती राजधानी राखी राजन की धरा मैं धरम राख्यो राख्यो गुन गुनी मैं॥ भूषन सुकवि जीति हद्द मरहट्टन की देस देस कीरति बखानी तव सुनी मैं। साहि के सपूत सिवराज समसेर तेरी दिल्ली दल दाबि के दिवाल राखी दुनी मैं॥

[६]

छूटत कमान और तीर गोली बानन के मुसकिल होत मुरचान हू की ओट मैं। ताही समै सिवराज हुकुम कै हल्ला कियो दावा बाँधि पर हला बीर भट जोट मैं॥ भूषन भनत तेरी किम्मत कहाँ लौं कहौं हिम्मत यहाँ लगि है जाकी भट झोट मैं। ताव दै दै मूछन कँगूरन पै पाँव दै दै अरि मुख घाव दै दै कूदे परें कोट मैं॥

[७]

ऊँचे घोर मन्दिर के अन्दर रहनवारी ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं। कन्द मूल भोग करैं कन्द मूल भोग करैं तीन बेर खाती सो तो तीन बेर खाती हैं। भूषन सिथिल अंग भूषन सिथिल अंग बिजन डुलाती ते वे बिजन डुलाती हैं। भूषन भनत सिवराज वीर तेरे त्रास नगन जड़ाती ते वै नगन जड़ाती हैं॥

मालती सवैया

[८]

कामिनि कंत सों जामिनि चंद सों दामिनि पावस मेघ घटा सों। कीरति दान सों सूरति ज्ञान सों प्रीति बड़ी सनमान महा सों॥ भूषन भूषन सों तरुनी नलिनी नव पूषनदेव प्रभा सों। जाहिर चारिहु ओर जहान लसै हिंदुवान खुमान सिवा सों॥

कवित्त मनहरण

[९]

सीता संग सोभित सुलच्छन सहाय जाके भूपर भरत नाम भाई नीति चारु है। भूषन भनत कुल सूर कुल भूषन हैं दासरथी सब जाके भुज भुव भारु है॥ अरि लंक तोर जोर जाके संग बान रहैं सिंधुर हैं बाँधे जाके दल को न पारु है। तेगहि कै भेंटै जौन राकस मरद जाने सरजा सिवाजी राम ही को अवतारु है॥

मालती सवैया

[१०]

दच्छिननायक एक तुही, भुव भामिनि को अनुकूल ह्वै भावै। दीनदयाल न तो सो दुनी पर म्लेच्छ के दीनहिं मारि मिटावै। श्री सिवराज भनै कवि भूषन तेरे सरूप को कोउ न पावै। सूर सुबंस मैं सूरसिरोमनि ह्वैकरि तू कुलचंद कहावै॥

[११]

कवित्त मनहरण

इंद्र निज हेरत फिरत गज-इंद्र अरु इंद्र को अनुज हेरै दुगधनदीस को। भूषन भनत सुरसरिता को हंस हेरै बिधि हेरै हंस को चकोर रजनीस को॥ साहि तनै सिवराज करनी करी है तैं जु होत है अचंभो देव कोटियो तैंतीस को। पावत न हेरे तेरे जस मैं हिराने निज गिरि को गिरीस हेरैं गिरिजा गिरीस को॥

[१२]

अमृतध्वनि छंद

दिल्लिय दलन दबाय करि सिव सरजा निरसंक। लूटि लियो सूरति सहर बंक्कक्करि अति डंक॥ बंकक्करि अति डंक-क्करि अस संकक्कुलि खल। सोचच्चकित भरोच्चलिय बिमोच्चखजल॥ तट्टट्टइमन कट्ठट्ठिक सोइ रट्ठट्ठिल्लिय। सद्दि-द्दिसि दिसि भद्दद्बिभइ रद्दद्दिल्लिय॥

[१३]

मुंड कटत कहुँ रुंड नटत कहुँ सुंड पटत घन। गिद्ध लसत कहुँ सिद्ध हँसत सुख वृद्धि रसत मन॥ भूत फिरत करि बूत भिरत सुर दूत घिरत तहँ। चंडि नचत गन मंडि रचत धुनि डंडि मचत जहँ॥ इमि ठानि घोर घमसान अति भूषन तेज कियो अटल। सिवराज साहि सुव खग्ग बल दलि अडोल बहलोल दल॥

श्रीदेवजी

"देवदत्त", उपनाम 'देव' का जन्म संवत् १७३० वि० में हुआ था। इन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थ भावविलास में निम्नलिखित दोहे में अपना समय कहा है—

'सुभ सत्रह सै छियालिस, चढ़त सोरही वर्ष;
कढ़ी देव मुख देवता, 'भावविलास' सहर्ष।

देवजी ने अपने ग्रन्थों में सन् संवत् का ब्योरा बहुत कम दिया है और अपने विषय में तो प्रायः कुछ भी नहीं कहा है। इन्हीं कारणों से इनके विषय में बहुत ही कम बातें ज्ञात हैं। यहां तक कि हम इनके पिता तक का नाम नहीं जानते। इन्होंने कहा है कि—

"घौसरिया कवि देवकी, नगर इटायो बास"

इससे विदित होता है कि देवजी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। और इटावा नगर के रहने वाले थे। पूछताछ से ज्ञात हुआ है कि ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और पंसारी टोला बलालपुरा (शहर इटावा) में रहते थे। इनके वंशधर इटावे से १२ मील मौजा कुसुमरा में आज तक मौजूद हैं। शिवसिंह सरोज में इनका निवासस्थान समाने गांव में माना गया है। यह जिला मैनपुरी में है। देवजी हित हरिवंश स्वामी के सम्प्रदायवाले बारह शिष्यों में मुख्य हैं। अत्यन्त प्रतिभाशाली होते हुए भी इनका

अच्छा आदर कहीं नहीं हुआ। सिवा राजा भोगीलाल के प्रायः इनका आदर कहीं नहीं हुआ। इन्हीं अनुभवों के कारण इन्होंने लिखा था कि—

"आजु लागि कत नरनाहन की 'नाहिं' सुनि,
नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो।"

देवजी ने 'भावविलास' और 'अष्टयाम' बनाकर पहले पहल औरङ्गजेब के बड़े पुत्र आज़म शाह को सुनाया था और भावविलास में इन्होंने लिखा है कि—

'दिल्लीपति नवरंग के, आजमसाहि सपूत;
सुन्यौ सराह्यो ग्रन्थ यह, अष्टयाम संयूत।'

कविवर देवजी गुणज्ञ की खोज में तथा अन्य कारणों से भी प्रायः देश भर में घूमते रहे। इस प्रकार इन्हें मनुष्यों की चाल ढाल, रीतियों तथा अन्यान्य दर्शनीय पदार्थों का बड़ा अनुभव हो गया था। इन्होंने अपने इस अपूर्व ज्ञान को वृथा नहीं खोया। अपनी रचनाओं में स्थान स्थान पर इन्होंने उसका उपयोग किया है।

यों तो इनके ७२ ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं किन्तु लगभग २६ ग्रन्थों का तो पता अब तक लग चुका है। जिन में से भावविलास, अष्टयाम, रसविलास, भवानी विलास, जगदर्शन पचीसी, आत्मदर्शन पचीसी, देवमाया-प्रपंच नाटक इत्यादि अधिक प्रसिद्ध हैं। देव ने घनाक्षरी तथा सवैयों में अपनी रचना अधिक की है। इनकी कविता में पृष्ठ के पृष्ठ पढ़ते चले जाइये बुरा छन्द शायद एक भी न मिलेगा। इनकी पुस्तकों में प्रायः छन्दों की पुनरावृत्ति-सी मिलती है जिस का कारण शायद यही था कि

उनमें कितने ही पृथक् पृथक् भाव झलकते हैं अतः वही छन्द कई स्थलों पर विविध भावों के उदाहरण स्वरूप रख दिये गये हैं। इनकी कविता में अजायब घर की भाँति अच्छे से अच्छे छन्द देखते चले जाइये परन्तु उसमें बिहारी की भाँति उतने चोज नहीं मिलते; किन्तु इसके साथ ही साथ इनके साहित्य में अभूतपूर्व कोमलता, रसिकता, सुन्दरता आदि गुण कूट कूट कर भरे हैं। ऐसे उत्कृष्ट गुण किसी और की कविता में कठिनाई से मिलेंगे।

देव की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। भाषा की दृष्टि से देव और मतिराम हिन्दी-साहित्य में बहुत ही ऊंचे ठहरते हैं। इनकी भाषा टकसाली है। इनकी भाषा में अनुप्रास और यमक भरे पड़े हैं। जो शब्द एक बार उठा लेते थे प्रायः उसी प्रकार के कई और शब्द उसके पीछे रखते चले जाते थे। परन्तु ऐसे शब्द लाने में इन्हें निरर्थक शब्द या पद नहीं रखने पड़े हैं और न कहीं अपने भाव ही बिगाड़ने पड़े हैं।

यद्यपि इस समय के कवि प्रायः आचार्यत्व की कोटि के बाहर ही हुआ करते थे परन्तु इनके ग्रन्थों का अवलोकन करने से प्रत्यक्ष पता चल जाता है कि ये महानुभाव कवि की नैसर्गिक प्रतिभा के साथ काव्य के अच्छे मर्मज्ञ भी थे।

अभी कुछ ही समय पहले देव और बिहारी के विषय में विद्वानों में तुमुल विवाद छिड़ा हुआ था, मिश्र-बन्धु प्रभृति विद्वान जिस समय एक पक्ष का समर्थन कर रहे थे उसी समय लाला भगवानदीन तथा मंगलाप्रसाद पारितोषक के पाने वाले ख्यातनामा पण्डित पद्मसिंह शर्मा

इत्यादि दूसरी ही ओर थे। किन्तु अन्त में लोग इसी निष्कर्ष पर पहुंचे कि दोनों ही महाकवि थे तथा अपने अपने ढंग में दोनों ही को असाधारण सफलता मिली थी।

स्फुट कविताएं

पायन नूपुर मंजु बजैं
कटि किंकिन में धुनि की मधुराई ।
सांवरे अंग लसै पटपीत
हिये हुलसै बनमाल सुहाई ।।
माथे किरीट बड़े दृग चंचल
मन्द हँसी मुखचन्द जुन्हाई ।
जै जग मंदिर दीपक सुन्दर
श्रीब्रज दूलह देव सहाई ।। १ ।।

धाये फिरौ ब्रज में बधाये नित नंद जूके
गोपिन सधाये नाचौ गोपिन की भीर में ।
देव मति मूढ़े तुम्हें ढूंढ़े कहाँ पावे चढ़े
पारथ के रथ पैठे जमुना के नीर में ।।

श्रीदेवजी

आंकुस ह्वै दौरि हरनाकुस को फारयो उर
साथी ना पुकारयो हते हाथी हिय तीर में।
बिदुर की भाजी बेर भीलनी के खाय
बिप्र चाउर चबाय दुरे द्रोपदी के चीर में ॥ २ ॥

देव नभ मंदिर में बैठारयो पुहुमि पीठ
सिगरे सलिल अन्हवाये उमहत हौं।
सकल महीतल के मूल फल फूल दल
सहित सुगंध न चढ़ावन चहत हौं ॥
अगिनि अनंत धूप दीपक अखंड जोति
जल थल अन्न दै प्रसन्नता लहत हौं।
ढारत समीर चौंर कामना न मेरे और
आठौं जाम राम तुम्हें पूजत रहत हौं ॥ ३ ॥

तेरो घर घेरे आठौं जाम रहैं आठौं सिद्धि
नवौं निधि तेरे विधि लिखिए ललाट हैं।
देव सुख साज महाराजनि को राज तुही
सुमति सुसो ये तेरी कीरति के भाट हैं ॥
तेरे ही अधीन अधिकार तीन लोक कोसु
दीन भयो क्यों फिरै मलीन घाट बाट हैं।
तो मैं जो उठत बोलि ताहि क्यों न मिलै डोलि
खोलिये हिये में दिये कपट कपाट हैं ॥ ४ ॥

आई बरसाने ते बुलाई बृषभानु-सुता,
निरखि प्रभानि प्रभा भानु की अथै गई;
चक-चकवान के चकाए चक चोटन सों,
चौंकत चकोर चक चौंधा-सी चकै गई।
देव' नंद-नन्दन के नैनन अनन्दमई,
नन्दजू के मंदिरन चंदमई छै गई;
कंजन कलिनमई, कुंजन नलिनमई,
गोकुल की गलिन अलिनमई कै गई॥५॥

डारि द्रुम पालना बिछौना नवपल्लव के,
सुमन झगूला सोहै तन छबि भारी दै;
पवन झुलावै केकी कीर बतलावै मिलि,
कोयल हुलसावै पिक गावैं कर तारी दै।
परत पराग सो उतारो करै राई नोन,
कुंदकली नायिका लतान सिर सारी दै;
मदन नरेश जू को बालक बसन्त ताहि,
प्रात ही जगावत गुलाब चटकारी दै॥६॥

-:o:-

पद्माकर

रीतिकाल के अन्तिम भाग में राजाओं के आश्रय में रहकर कविता करने वाले कवियों में पद्माकर श्रेष्ठ हैं। ये रीतिकाल के अन्तिम कवि हैं। बिहारी को छोड़ कर रीतिकाल में ऐसा सर्वप्रिय कवि दूसरा नहीं हुआ। ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १८१० में बाँदे में हुआ था। इनके पिता भी कवि थे। पद्माकर शृंगारिक प्रकृति के थे। ये अधिकतर जयपुर-दरबार में रहे और यहीं के महाराज जगतसिंह की आज्ञा से उन्हीं के नाम पर इन्होंने 'जगद्विनोद' बनाया जो इनका सब से प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह शृंगार-रस का एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसमें रस, नायिकाभेद आदि लक्षण ग्रन्थों के विषयों की अच्छी व्याख्या है। ग्रन्थ ब्रजभाषा में है।

शृंगाररस के अतिरिक्त इन्होंने, वीर और भक्तिरस की भी कविता की है। 'हिम्मत बहादुर बिरुदावली' वीर-रस का ग्रन्थ है। 'प्रबोध-पचासा' और 'गंगालहरी' भक्ति-रस के उत्कृष्ट ग्रन्थ हैं। गंगालहरी की रचना वृद्धावस्था में कानपुर में गंगातट पर की गई थी इसमें अनुप्रास की छटा देखने लायक है। अपनी कविता में यमक का भी इन्होंने अधिक प्रयोग किया है। इनकी भाषा ललित और रचना रमणीय है। ८० वर्ष की अवस्था में गंगातट पर ये स्वर्गवासी हुए।

गंगास्तव

कूरम पै कोल, कोलहूँ पै शेषकुंडली है,
कुंडली पै फबी फैल सुफन हजार की।
कहै पद्माकर, त्यौं फनन फबी है भूमि,
भूमि पै फबी है थित रजत-पहार की॥
रजत-पहार पर शंभु सुरनायक हैं,
शंभु पर ज्योति जटाजूट है अपार की।
शंभु जटाजूटन पै चंद की छुटी है छटा,
चंद की छटान पै छटा है गंगधार की॥१॥

कलि के कलंकी कूर कुटिल कुराही केते,
तरिगे तुरंत तबै लीन्हीं रेणु राह जब।
कहै पद्माकर, प्रयाग बिनु पावै सिद्धि,
मानत न कोऊ यम-दूतन की दाह दब॥
कागद करम करतूति के उठाई धरे,
पचि पचि पेंच में परे हैं प्रेत-नाह अब।

बेपरद बेदरद गजब गुनाहिन के,
गंगा की गरद कीन्हें गरद गुनाह सब ॥२॥

करम को मूल तन, तन-मूल जीव जग,
जीवन को मूल अति आनँदहि धरिबो ॥
कहै पद्माकर त्यौं आनँद को मूल राज,
राज-मूल केवल प्रजा को भौन भरिबो ॥
प्रजा-मूल अन्न, सब अन्नन को मूल मेघ,
मेघन को मूल एक यज्ञ अनुसरिबो ।
यज्ञन को मूल धन, धन-मूल धर्म अरु
धर्म-मूल गंगा-जल-विन्दु पान करिबो ॥३॥

गंगा के चरित्र लखि भाष्यो यमराज यह,
ए रे चित्र-गुप्त, मेरे हुकुम में कान दै ।
कहै पद्माकर नरक सब मूँदि कर,
मूँदि दरवाजेन को तजि यह थान दै ॥
देखु यह देवनदी कीन्हें सब देव
यातें दूतन बुलाइ कै बिदा के बेगि पान दै ।
फारि डारु फरद, न राखु रोजनामा कहूँ,
खाता खत जान दै, बही को बहि जान दै ॥४॥

गंगा जू, तिहारे तीर आछी भाँति पद्माकर,
देखी एक पातकी की अद्भुत गति है ।
आय कै गोबिन्द वाहि धारिकै गरुड़ जू पै,
आपनेई लोक जाइबे की कीन्हीं मति है ॥

जौं लौं चलिबे में भयो गाफिल गोबिन्द तौ लौं,
चोरि चतुरानन चलाई हंसगति है।
जौं लौं चतुरानन चितैबे चारों ओर तौं लौं,
वृष पै चढ़ाइ लै गयोई वृषपति है ॥ ५ ॥
जैसे तैं न मोकों कहूँ नेकहूँ डरात हुतो,
ऐसे अब तोसों होंहुँ छनेकहूँ न डरिहौं।
कहै पद्माकर प्रचंड जो परैगो तौ,
उमंडि करि तो सों भुजदंड ठोंकि लरिहौं ॥
चलो चलु, चलो चलु, बिचलु न बीचही तें,
कीच-बीच नीच तौ कुटुंब को कचरिहौं।
ए रे दगादार, मेरे पातक अपार.
तोहिं गंगा की कछार में पछारि छार करिहौं ॥ ६ ॥
आयो जौन तेरी धौरी धारा में धसत जात,
तिनको न होत सुरपुर तें निपात है।
कहै पदमाकर तिहारो नाम जाके मुख
ताके मुख अमृत को पुंज सरसात है ॥
तेरो तोय छुकै औ छुवत तन जाको गात,
तिनकी न चलै यमलोकन में बात है।
जहाँ-जहाँ मैया तेरी धूरि उड़ि जात गंगा,
तहाँ तहाँ पापन की धूरि उड़ि जात है ॥ ७ ॥
यमपुर द्वारे, लगे तिनमें केवारे,
कोऊ हैं न रखवारे ऐसे बन के उजारे हैं।

कहैं पद्माकर तिहारे प्रण धारे,
तेऊ करि अघभारे [illegible] सिधारे हैं।
सुजन सुखारे करे पुण्य उजियारे
अति पतित-कतारे भवसिंधु तें उतारे हैं
कहू के न तारे तिन्हैं गंगा तुम तारे,
और जेते तुम तारे तेते नभ में न तारे हैं
विधि के कमण्डल की सिद्धि है प्रसिद्ध यही,
हरि-पद-पंकज प्रताप की लहर है।
कहै पद्माकर गिरीश-शीश-मण्डल के,
मुण्डन की माल ततकाल अघहर है॥
भूपति भगीरथ के रथ की सुपुण्य-पथ,
जह्नु-जप-योग-फल-फैल की फहर है।
छेम की छहर, गंगा रावरी लहर,
कलिकाल को कहर यम-जाल को जहर है॥ ६॥

(गंगा-लहरी से

दीनदयाल गिरि

यह काशी में एक पाठक ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता ने इन्हें ५–६ वर्ष की अवस्था ही में महंत कुशागिरि के निरीक्षण में छोड़ दिया था। महंत जी के गायघाट के मठ में यह रहा करते थे। यह संस्कृत और हिन्दी दोनों के अच्छे विद्वान् थे। इनकी अन्योक्तियां बहुत प्रसिद्ध हैं और इनकी भाषा भी बड़ी विशुद्ध और मँजी हुई होती थी। इनका अन्योक्ति-कल्पद्रुम हिन्दी-साहित्य का एक अनमोल ग्रंथ है।

अन्योक्तियाँ

जिन तरु को परिमल परसि, लियो सुजस सब ठाम।
तिन भञ्जन करि आपनो, कियो प्रभञ्जन नाम॥
कियो प्रभञ्जन नाम, बड़ो कृतघन बरजोरी।
जब जब लगी दवागि, दियो तब झोंकि झकोरी।
बरनै दीनदयाल, सेउ अब खल थल मरु को।
ले सुख सीतल छाँह, तासु तोर्‌यो जिन तरु को॥१॥

केतो सोम कला करो, करो सुधा को दान।
नहीं चन्द्रमनि जो द्रवै, यह तेलिया पखान॥
यह तेलिया पखान, बड़ी कठिनाई जाकी।
टूटी याके सीस, बीस बहु बाँकी टाँकी॥
बरनै दीनदयाल, चन्द तुमहीं चित चेतो।
कूर न कोमल होंहि, कला जो कीजै केतो॥२॥

बरखै कहा पयोद इत, मानि मोद मन माहिं।

यह तो ऊसर भूमि है, अंकुर जमिहैं नाहिं ॥
अंकुर जमिहैं नाहिं, बरस शत जो जल दैहै।
गरजै तरजै कहा, बृथा तेरो श्रम जैहै॥
बरनै दीनदयाल, न ठौर कुठौरहि परखै।
नाहक गाहक बिना, बलाहक ह्याँ तू बरखै॥ ३॥

भौंरा अन्त बसन्त के, हैं गुलाब इहि रागि।
फिरि मिलाप अति कठिन है, या बन लगे दवागि॥
या बन लगे दवागि, नहीं यह फूल लहैगो।
ठौरहि ठौर भ्रमात, बड़ो दुख तात सहैगो॥
बरनै दीनदयाल, किते दिन फिरिहै दौरा।
पछतैहै कर दये, गये ऋतु पीछे भौंरा॥ ४॥

रंभा झूमत हौ कहा, थोरे ही दिन हेत।
तुमसे केते ह्वै गये, अरु ह्वै हैं यहि खेत॥
अरु ह्वै हैं यहि खेत, मूल लघु साखा हीने।
ताहू पै गज रहै, दीठि तुम पै प्रति दीने॥
बरनै दीनदयाल, हमैं लखि होत अचम्भा।
एक जन्म के लागि, कहा झुकि झूमति रम्भा॥ ५॥

नाहीं भूलि गुलाब तू, गुनि मधुकर गुञ्जार।
यह बहार दिन चार की, बहुरि कटीली डार॥
बहुरि कटीली डार, होहिगी ग्रीषम आये।
लुवैं चलैंगी संग, अङ्ग सब जैहैं ताये॥

बरनै दीनदयाल, फूल जौलौं तो पाहीं।
रहे घेरि चहुँ फेरि, फेरि अलि ऐहैं नाहीं ॥६॥

टूटे नख रद केहरी, वह बल गयो थकाय।
हाय जरा अब आइ कै यह दुख दियो बढ़ाय॥
यह दुख दियो बढ़ाय, चहूँ दिसि जंबुक गाजैं।
ससक लोमरी आदि स्वतंत्र करैं सब राजैं॥
बरनै दीनदयाल हरिन बिहरैं सुख लूटे।
पंगु भयो मृगराज आज नख रद के टूटे ॥७॥

पैहौ कीरति जगत में, पीछे धरो न पाँव।
छत्री कुल के तिलक हे महा समर या ठाँव॥
महा समर या ठाँव चलै सर कुन्त कृपानैं।
रहे वीर गन गाजि पीर उर मैं नहिं आनैं॥
बरनै दीनदयाल हरखि जो तेग चलैहो।
ह्वैहौ जीते जसी, मरे सुरलोकहि पैहो ॥८॥

भारी भार भरयो बनिक, तरिबो सिन्धु अपार।
तरी जरजरी फँसि परी, खेवनहार गँवार॥
खेवनहार गँवार, ताहि पर पौन झकोरै।
रुकी भँवर में आय, उपाय चलै न करोरै॥
बरनै दीनदयाल, सुमिर अब तू गिरधारी।
आरत जन के काज, कला जिन निज संभारी ॥९॥

आछी भाँति सुधारि कै, खेत किसान बिजोय।
नत पीछे पछतायगो, समै गयो जब खोय॥

समै गयो जब खोय, नहीं फिरि खेती ह्वैहै ।
लैहै हाकिम पोत, कहा तब ताको दैहै ॥
बरनै दीनदयाल, चाल तजि तू अब पाछी ।
सोउ न सालि सँभालि, बिहंगन तें बिधि आछी ॥१०॥

सोई देस बिचारि कै, चलिये पथी सुचेत ।
जाके जस आनन्द को, कबिवर उपमा देत ॥
कबिवर उपमा देत, रङ्क भूपति सम जामे ।
आवागवन न होय, रहै मुद मङ्गल तामे ॥
बरनै दीनदयाल, जहाँ दुख सोक न होई ।
ए हो पथी प्रवीन, देस को जैयो सोई ॥११॥

कोई सङ्गी नहिं उतै, है इतही को सङ्ग ।
पथी लेहु मिलि ताहि ते, सब सों सहित उमङ्ग ॥
सबसों सहित उमङ्ग बैठि तरनी के माहीं ।
नदिया नाव सँयोग फेरि यह मिलिहै नाहीं ॥
बरनै दीनदयाल पार पुनि भेंट न होई ।
अपनी अपनी गैल, पथी जैहैं सब कोई ॥१२॥

म्राहैं प्रबल अगाध जल, या में तीछन धार ।
पथी पार जो तू चहै खेवनहार पुकार ॥
खेवनहार पुकार वार नहिं कोऊ साथी ।
और न चलै उपाव, नाव बिन रहो पाथी ॥
बरनै दीनदयाल, नहीं अब बूड़ै थाहैं ।
रहे महा मुख बाय, ग्रसन को भारी म्राहैं ॥१३॥

राही सोवत इत कितै, चोर लगैं चहुँ पास।
तौ निज धन के लेन को, गिनैं नींद की स्वाँस॥
गिनैं नींद की स्वाँस, बास बसि तेरे डेरे।
लिये जात बनि मीत, माल ये साँझ सबेरे॥
बरनै दीनदयाल, न चीन्हत है तू ताही।
जाग जाग रे जाग, इतै कित सोवत राही॥ १४ ॥

हारे भूली गैल में, गे अति पाँय पिराय।
सुनो पथी अब तो रह्यो, थोरो सो दिन आय॥
थोरो सो दिन आय, रहे हैं संग न साथी।
या बन हैं चहुँ ओर, घोर मतवारे हाथी॥
बरनै दीनदयाल, ग्राम सामीप तिहारे।
सूधे पथ को जाहु, भूलि भरमो कित हारे॥ १५ ॥

चारो दिसि सूझै नहीं, यह नद धार अपार।
नाव जर्जरी भार बहु, खेवनहार गँवार॥
खेवनहार गँवार, ताहि पर है मतवारो।
लिये भौंर में जाय, जहाँ जलजंतु अखारो॥
बरनै दीनदयाल, पथी बहु पौन प्रचारो।
पाहि पाहि रघुबीर, नाम धरि धीर उचारो॥ १६ ॥

देखो पथिक उघारि कै, नीके नैन बिबेक।
अचरज है यह बाग मैं, राजत है तरु एक॥
राजत है तरु एक, मूल ऊरध अध साखा।

द्वै खग तहाँ अथाह, एक इक बहु फल चाखा।
बरनै　　　दीनदयाल, खाय सो निबल बिसेखो।
जो न खाय सो पीन, रहै अति अद्भुत देखो॥ १७॥

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म ऐसे समय में हुआ, जब उत्तर-भारत में पाश्चात्य सभ्यता और पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार हो रहा था। सिपाही-विद्रोह के बाद भारत का शासन सीधे सरकार के हाथ में आने पर अँगरेजों ने अपनी स्थिति मजबूत बनाने के लिए पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार शुरू किया। पाश्चात्य सभ्यता से भारत की जनता विशेष आकृष्ट हो चुकी थी। भाषा और साहित्य के क्षेत्र में भी अवनति दिखाई देती थी। हिन्दी भाषा की दशा बड़ी शोचनीय थी। लोग हिन्दी को कोई भाषा ही नहीं समझते थे। हिन्दी-भाषा भी समय के परिवर्तन से उत्पन्न नवीन भावों और विचारों को प्रकट करने में असमर्थ हो रही थी। प्राचीन काव्य ग्रन्थों के अतिरिक्त कोई अन्य ग्रन्थ नहीं थे। ऐसी स्थिति में भारतेन्दु जी ने भाषा का प्रचार किया, देश काल के अनुकूल नवीन साहित्य का निर्माण किया और जनता में देश-भक्ति का भाव जाग्रत किया।

हरिश्चन्द्र, इतिहास-प्रसिद्ध, सेठ अमीचन्द के वंशज थे। उनका जन्म काशी में सं० १९०७ (ता० ९ सितम्बर, सन् १८५०) में हुआ। बचपन में ही माता-पिता का देहान्त हो जाने से इनकी स्वतन्त्र प्रकृति को और भी स्वच्छन्दता मिल गई। इससे इनकी शिक्षा भली भाँति

नहीं होने पाई। अपनी माता के साथ सन् १८६४ में जगन्नाथ-यात्रा के समय से इनका साहित्यिक जीवन आरम्भ होता है। इस यात्रा में इन्हें वंग-साहित्य के अध्ययन का और बँगला-नाटकों के देखने का अवसर मिला। इनका पहला नाटक विद्यासुन्दर जो संवत् १६२५ में प्रकाशित हुआ, एक बँगला नाटक का अनुवाद है। इनकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी। ५, ६ वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने जो दोहा बनाकर अपने पिता को दिखाया, उससे इनकी प्रतिभा का पता चलता है। वह दोहा इस प्रकार है—

लै ब्योंड़ा ठाढ़े भये, श्री अनिरुद्ध सुजान।
बानासुर की सैन को, हनन लगे भगवान॥

इसी प्रकार अपने पिता के रचे हुए पद "करन चहत जस चारु; कछु कछुआ भगवान को।" का एक विशेष अर्थ करके उपस्थित विद्वानों को चमत्कृत किया। वह अर्थ इस प्रकार है, कुछ कुछ जिस भगवान् को छू लिया है, (कछु कछुवा भगवान) उसका यश (आप) वर्णन करना चाहते हैं। कवि की हैसियत से हरिश्चन्द्र का स्थान बहुत ऊँचा है। ये आशु कवि थे। बातें करते जाते थे, कविता भी लिखते जाते थे। इन्होंने अनेक रसों में कविता करके अपनी कवित्व-शक्ति प्रदर्शित की है। इन्होंने ईश्वरीय और लौकिक दोनों प्रकार के प्रेम का श्रेष्ठ वर्णन किया है। अपने पूर्ववर्ती कवियों की तरह अलंकार-प्रदर्शन के लिए उन्होंने कविता नहीं की, तब भी इनकी रचना में अलंकारों की छटा अनायास दिखाई देती है। इनका गङ्गा-वर्णन (जो यहाँ उद्धृत किया गया है) इसका अच्छा उदाहरण है। इन्होंने कविता के लिए व्रजभाषा और गद्य

के लिए खड़ी बोली को अपनाया। उनके समय में इस बात का झगड़ा चल रहा था, कि हिन्दी उर्दू-मिश्रित हो या नहीं। इन्होंने शुद्ध हिन्दी का पक्ष लेकर उसे एक नया ही रूप दे दिया। इनकी भाषा में माधुर्य गुण प्रधान है। इनके अनेक काव्य-ग्रन्थों में से 'प्रेम-माधुरी','प्रेम-फुलवारी', 'प्रेम-तरङ्ग' बहुत अच्छे हैं।

नाटककार की दृष्टि से ये हिन्दी में नाटक-साहित्य के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। इन्होंने १४ नाटक लिखे। इनमें से ५ अनुवादित, ७ मौलिक और २ अपूर्ण हैं। अनुवादित नाटकों में विद्यासुन्दर, पाखण्ड-विडम्बन, धनंजय विजय, कर्पूर-मञ्जरी और मुद्राराक्षस हैं। पहला बँगला से अनुवादित है और शेष चारों संस्कृत या प्राकृत से। इन अनुवादों में मौलिकता का आनन्द है। हिन्दी में नाटक लिख कर साहित्य के एक प्रधान अंग की पूर्त्ति की। हिन्दी नाटक का विकास ही भारतेन्दु के साथ शुरू हुआ है।

इनका सबसे प्रसिद्ध मौलिक नाटक, 'सत्यहरिश्चन्द्र' है। इनके अन्य प्रसिद्ध नाटक भारत-दुर्दशा, नीलदेवी, चन्द्रावली (नाटिका), अन्धेरनगरी (प्रहसन), वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (प्रहसन) हैं।

भारतेन्दु के हृदय में देश-प्रेम का भाव बड़ा उत्कट था। इस भाव को इन्होंने "भारत-दुर्दशा" के प्रारम्भ में भारत की दयनीय दशा दिखाकर प्रकट किया है। इसी नाटक में भारत के प्राचीन गौरव का चित्र खींचकर इन्होंने देशाभिमान भी प्रकट किया है।

जनता में शिक्षा के प्रचार के लिए इन्होंने "हरिश्चन्द्र-स्कूल" खोला। इनका विश्वास था कि भारतीय संस्कृति की रक्षा भाषा और साहित्य की

रक्षा के द्वारा ही संभव है। अतः हिन्दी भाषा के प्रचार के लिए 'कवि-वचनसुधा' और 'हरिश्चन्द्र-मैगज़ीन' निकाला। इसी उद्देश्य से अन्य संस्थायें—वाचनालय इत्यादि—स्थापित कीं। स्त्री-शिक्षा के लिए "बाला-बोधिनी" पत्रिका निकाली। इन पत्र-पत्रिकाओं से शिक्षा के प्रचार के साथ साथ भाषा का संस्कार भी हुआ।

इनकी उदारता बहुत प्रसिद्ध थी। इन्होंने अनेक लोगों को पुरस्कार दे देकर कवि और लेखक बना लिया। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने का पहले-पहल प्रयत्न इन्होंने किया। सन् १८८० में हिन्दी के समस्त समाचार-पत्रों ने इन्हें "भारतेन्दु" की उपाधि दी। जिसका आदर राजा और प्रजा दोनों ने समान रूप से किया। संवत् १९४२ में (६ जनवरी सन् १८८५) को ३५ वर्ष की अवस्था में ये गो लोक-वासी हुए।

कविता—चयन

नव उज्जल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता मनि पोहति॥
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नर-गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥
सुभग स्वर्ग सोपान सरिस सब के मन भावत।
दरसन मज्जन पान त्रिबिध भय दूर मिटावत॥
श्रीहरि-पद-नख-चन्द्रकान्त-मन-द्रवित सुधारस।
ब्रह्म-कमण्डल मण्डन भवखण्डन सुर-सरबस॥
शिव-सिर-मालति-माल भगीरथ नृपति-पुण्य-फल।
ऐरावत-गज-गिरि-पति-हिम-नग-कण्ठहार कल॥
सगर-सुवन सठ सहस परस जलमात्र उधारन।
अगनित धारा रूप धारि सागर संचारन॥
कासी कहँ प्रिय जानि ललकि भेंट्यो जग धाई।
सपने हूँ नहिं तजी रही अंकम लपटाई॥

कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरिवर सम सोहत ।
कहुँ छतरी कहुँ मढ़ी बढ़ी मन मोहत जोहत ॥
धवल धाम चहुँ ओर फरहरत ध्वजा पताका ।
घहरत घंटा धुनि धमकत धौंसा करि साका ॥
मधुरी नौबत बजत कहूँ नारी नर गावत ।
वेद पढ़त कहुँ द्विज कहुँ जोगी ध्यान लगावत ॥
दीठि जहाँ जहँ जात रहत तितहीं ठहराई ।
गङ्गा-छबि हरिचन्द कछू बरनी नहिं जाई ॥

(२)

जिनके हितकारक पंडित हैं तिनकों कहा सत्रुन को डर है ।
समुझैं जग मैं सब नीतिन्ह जो तिन्हैं दुर्ग बिदेस मनो घर है ॥
जिन मित्रता राखी है लायक सों तिनकों तिनकाहू महासर है ।
जिनकी परतिज्ञा टरै न कबौं तिनकी जय ही सब ही थर है ॥

(३)

जगत मैं घर की फूट बुरी ।
　　घर के फूटहि सों बिनसाई सुवरन लंकपुरी ॥
फूटहि सों सब कौरव नासे भारत युद्ध भयो ।
　　जाको घाटो या भारत मैं अबलौं नहिं पुजयो ॥
फूटहि सों नवनन्द बिनासे गयो मगध को राज ।
　　चन्द्रगुप्त को नासन चाह्यौ आपु नसे सह साज ॥
जो जग मैं धन मान और बल अपुनो राखन होए ।
　　तो अपने घर मैं भूले हू फूट करो मति कोए ॥

(४)

जग सूरज चंद टरैं तो टरैं पै न सज्जन नेहु कबौं बिचलै।
धन संपति सर्वस गेहु नसौ नहिं प्रेम की मेंड़ सों एँड़ टलै॥
सतवादिन को तिनका सम प्रान रहै तो रहै वा ढलै तो ढलै।
निज मीत की प्रीति प्रतीति रहौ इक और सबै जग जाउ भलै॥

जगन्नाथदास रत्नाकर

बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर

इनका जन्म संवत् १६२३ में काशी में हुआ था। बाल्यकाल से ही इनका अनुराग साहित्य की ओर था, परन्तु पहले पहल ये फ़ारसी की ओर अधिक झुके थे। बाद ब्रजभाषा के काव्य का इन्होंने विधि-पूर्वक अध्ययन किया तथा आमरण हिन्दी ब्रजभाषा काव्य की सेवा करते रहे।

यों तो इन्होंने अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे परन्तु इनका गंगावतरण काव्य, उद्धवशतक, विहारी रत्नाकर सब से अधिक प्रख्यात हैं। अपने अन्तिम दिवसों में इन्होंने सूर सागर का एक अच्छा संस्करण निकालने की व्यवस्था की थी परन्तु उसे बिना पूर्ण किए ही इनकी मृत्यु हो गई। वह कार्य अभी भी काशी नागरी प्रचारिणी सभा कर रही है।

गंगावतरण

निकसि कमंडल तैं उमंडि नभ-मंडल-खंडति ।
धाई धार अपार बेग सौं बायु बिहंडति ।।
भयौ घोर अति सब्द धमक सौं त्रिभुवन तर्जे ।
महा मेघ मिलि मनहु एक संगहिं सब गर्जे ।। १ ।।
भरके भानु-तुरंग चमकि चलि मग सौं सरके ।
हरके बाहन रुकन नैंकु नहिं बिधि-हरि-हर के ।।
दिग्गज करि चिक्कार नैन फेरत भय-थरके ।
धुनि प्रतिधुनि सौं धमकि धराधर के उर धरके ।। २ ।।
कढ़ि कढ़ि गृह सौं बिबुध बिबिध जाननि पर चढ़ि चढ़ि ।।
पढ़ि पढ़ि मंगल पाठ लखत कौतुक कछु बढ़ि बढ़ि ।।
सुर-सुंदरी ससंक बंक दीरघ दृग कीने ।
लगीं मनावन सुकृत हाथ काननि पर दीने ।। ३ ।।
निज दरेर सौं पौन-पटल फारति फहरावति ।
सुर-पुर के अति सघन घोर घन घसि घहरावति ।।

मनौ हंस-गन मगन सरद-बादर पर खेलत ।
भरत भाँवरैं जुरत मुरत उलहत अवहेलत ॥ १५ ॥
कबहुँ बायु सौं बिचलि बंक-गति लहरति धावै ।
मनहु सेस सित-बेस गगन तैं उतरत आवै ॥
कबहुँ फेन उफनाइ आइ जल-तल पर राजै ।
मनु मुकतनि की भीर छीर-निधि पर छबि छाजै ॥ १६ ॥
कबहुँ सुताड़ित ह्वै अपार-बल-धार-बेग सौं ।
छुभित पौन फटि गौन करत अतिसय उदेग सौं ॥
देवनि के दृढ़ जान लगत ताके झकझोरे ।
कोउ आँधी के पोत होत कोउ गगन-हिंडोरे ॥ १७ ॥
उड़ति फुही की फाब फबति फहरति छबि छाई ।
ज्यौं परबत पर परत झीन बादर दरसाई ॥
तरनि-किरन तापर बिचित्र बहु रंग प्रकासै ।
इंद्र-धनुष की प्रभा दिव्य दसहूँ दिसि भासै ॥ १८ ॥
मनु दिगंगना गंग न्हाइ कीन्हे निज अंगी ।
नव भूषन नव-रत्न-रचित सारी सत-रंगी ॥
गंगागम-पथ माहिं भानु कैधौं अति नीकी ।
बाँधी बंदनवार . बिबिध बहु पटापटी की ॥ १९ ॥
इहिं बिधि धावति धँसति ढरति ढरकति सुख-देनी ।
मनहु सवाँरति सुभ सुर-पुर की सुगम निसेनी ॥
बिपुल बेग बल बिक्रम कैं ओजनि उमगाई ।
हरहराति हरषाति संभु-सनमुख जब आई ॥ २० ॥

भई थकित छबि छकित हेरि हर-रूप मनोहर ।
ह्वै आनहि के प्रान रहे तन धरे धरोहर ॥
भयौ कोप कौ लोप चोप औरै उमगाई ।
चित चिकनाई चढ़ी कढ़ी सब रोष-रुखाई ॥ २१ ॥

छोभ-छलक ह्वै गई प्रेम की पुलक अंग मैं ।
थहरन के ढरि ढंग परे उछरति तरंग मैं ॥
भयौ बेग उद्वेग पेंग छाती पर धरकी ।
हरहरान धुनि बिघटि सुरट उघटी हर-हर की ॥ २२ ॥

भयौ हुतौ भ्रुव-भंग-भाव जो भव-निदरन कौ ।
तामैं पलटि प्रभाव परयौ हिय हेरि हरन कौ ॥
प्रगटन सोइ अनुभाव भाव औरै सुखकारी ।
ह्वै थाई उतसाह भयौ रति कौ संचारी ॥ २३ ॥

कृपानिधान सुजान संभु हिय की गति जानी ।
दियौ सीस पर ठाम बाम करि कै मन मानी ॥
सकुचति ऐंचति अंग गंग सुख-संग लजानी ।
जटा-जूट-हिम-कूट सघन बन सिमिटि समानी ॥ २४ ॥

पाइ ईस कौ सीस-परस आनँद अधिकायौ ।
सोइ सुभ सुखद निवास बास करिबौ मन ठायौ ॥
सीत सरस संपर्क लहत संकरहु लुभाने ।
करि राखी निज अंग गंग कैं रंग भुलाने ॥ २५ ॥
बिचरन लागी गंग जटा-गह्वर-बन-बीथिनि ।

लहति संभु-सामीप्य-परम-सुख दिननि निसीथिनि ॥
इहिं बिधि आनँद मैं अनेक बीते संबत्सर ।
छोड़त छुटत न बनत ठनत नव नेह परस्पर ॥ २६ ॥
यह देखि दुखित भूपति भए चित चिंता प्रगटी प्रबल ।
अब कीजै कौन उपाय जिहिं सुरसरि आवै अवनि-तल ॥ २७ ॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय (हरिऔध)

अयोध्यासिंह उपाध्याय

उपाध्याय जी खड़ी बोली के प्रसिद्ध कवि हैं। पहले ये पुराने ढंग की शृंगाररस की कविता करते थे। विषय, भाषा, शैली और छन्द की दृष्टि से इनकी कविता में प्राचीनता और नवीनता दोनों बातें दिखाई देती हैं। उपाध्याय जी सनाढ्य ब्राह्मण हैं। इनका जन्म सं० १९२२ में हुआ। सं० १९३६ में वर्नाक्युलर मिडिल परीक्षा और सं० १९४४ में नार्मल परीक्षा पास करके अध्यापक का कार्य किया। पीछे सं० १९४६ में क़ानून-गोई परीक्षा पास होने पर क़ाननूगो के पद पर नियुक्त किए गए। क्रमशः उन्नति करते करते सदर क़ानूनगो का पद प्राप्त किया। लगभग २० वर्ष तक इस पद पर काम करने के बाद १ नवंबर सन् १९२३ ई० से, पेंशन लेकर, पं० मदनमोहन जी मालवीय के अनुरोध से, हिन्दू-विश्वविद्यालय में हिन्दी-साहित्य के अध्यापक (अवैतनिक) का काम करते हैं। हिन्दी में उपाध्याय जी कवि-सम्राट् माने जाते हैं। इनकी ख्याति का प्रधान कारण अतुकांत महाकाव्य 'प्रियप्रवास" की रचना है। संस्कृत-पद-विन्यास और संस्कृत-छन्द इस ग्रन्थ की विशेषताएं हैं। इसमें उपाध्याय जी ने कृष्ण के प्रति यशोदा, गोपी तथा राधा के स्नेह के वर्णन-द्वारा मनोभावों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। इस ग्रन्थ में समाज-सेवा का भी आदर्श दिखाया है। कहीं कहीं संस्कृत के समस्त-पदों की इतनी बहुलता

है, कि हिन्दी के क्रियापद 'है' 'थे' इत्यादि को छोड़ कर अन्य हिन्दी के बहुत कम शब्द मिलते हैं। कविता अधिकतर वर्णनात्मक है। कुछ वर्णन मार्मिक हैं जैसे कृष्ण के चले जाने पर मथुरा की दशा का वर्णन। इनकी गणना हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों में होती है।

राधिका-विलाप

वंशस्थ छन्द

अतीव हो अन्य-मना विषादिता
विमोचते वारि दृगारविन्द से।
समस्त-सन्देश सुना ब्रजेश का।
ब्रजेश्वरी ने उर को करों गहे।
पुनः उन्होंने अति शान्त-भाव से।
कभी दुखों साथ कभी स-धीरता।
कहीं स्व-बातें बल-वीर बंधु से।
दिखा कलत्रोचित-चित्त-उच्चता ॥१॥

मन्दाक्रान्ता छन्द।

मैं हूँ ऊधो पुलकित हुई आप को आज पाके।
सन्देशों को श्रवण करके और भी मोदिता हूँ ॥
मंदी-भूता, उरतिमिर की ध्वंसिनी ज्ञान-आभा।
उद्दीप्ता हो उचित-गति से उज्ज्वला हो रही है ॥२॥

मेरे प्यारे, पुरुष, पुहुमी-रत्न औ शान्त-धी हैं।
सन्देशों में तदपि उनकी, वेदना, व्यंजिता है॥
मैं नारी हूँ तरल-उर हूँ प्यार से वंचिता हूँ।
जो होती हूँ विकल-विमना-व्यस्त वैचित्र्य क्या है॥३॥

जो उत्कण्ठा अधिक-प्रबला है किसी काल होती।
तो ऐसी है लहर उठती चित्त में कल्पना की।
जो हो जाती पवन, गति-पा वांछिता-लोक-प्यारी।
मैं छू आती परम-प्रिय के मंजु-पादांबुजों को॥४॥

निर्लिप्ता औ यदपि अति-ही संयता नित्य मैं हूँ।
तो भी होती अति व्यथित हूँ श्याम की याद आते।
वैसी वांछा जगत-हित की आज भी है न होती।
जैसी जी में लसित प्रिय के लाभ की लालसा है॥५॥

हो जाता है उदित उर में मोह जो रूप-द्वारा।
व्यापी भू में अधिक जिस की मंजु-कार्य्यावली है॥
जो प्रायः है प्रसव-करता-मुग्धता मानसों में।
जो है क्रीड़ा-अवनि चित्त की भ्रान्ति उद्विग्नता का॥६॥

जाता है पंच-शर जिस की 'कल्पिता-मूर्त्ति' माना।
जो पुष्पों के विशिख-बल से विश्व को बेधता है।
भावों-डूबी मधुर-महती चित्त-विक्षेप-शीला।
न्यारी-लीला-विपुल जिस की मानसोन्मादिनी है॥७॥

देखी जाती यदपि उस में ईदृशी-शक्तियां हैं।
ज्ञाताओं ने प्रणय उस को है बताया न तो भी।

है दोनों से उरसि बढ़ती भूरि-आसंग-लिप्सा।
होती है किन्तु प्रणयज ही स्थायिनी औ प्रधाना ॥८॥
जैसे पानी-प्रणय तृषितों की तृषा है न होती।
हो पाती है न क्षुधित-क्षुधा अन्न-आसक्ति जैसे।
रूपाधारों मधुर-छवि की मूर्त्तियों-मध्य योंही।
हो पाता है न प्रणय, हुआ मोह रूपादि-द्वारा ॥९॥
मूली-भूता-प्रणय विविधा-बुद्धि की वृत्तियां हैं।
हो जाती हैं समधिकृत जो व्यक्ति के सद्गुणों से।
वे होते हैं नित-नव, तथा दिव्यता-धाम, स्थायी।
पाई जाती प्रणय पथ में स्थायिता है इसी से ॥१०॥
हो जाता है विकृत स्थिरता-हीन है रूप होता।
पाई जाती नहिं इस लिये मोह में स्थायिता है।
होता है रूप विकशित भी प्रायशः एक ही सा।
हो जाता है प्रशमित अतः मोहसंभोग से भी ॥११॥
नाना-स्वार्थों विविध-सुख की वासना मध्य डूबा।
आवेगों से वलित ममता-वान है मोह होता।
निष्कामी है प्रणय शुचिता-मूर्ति है सात्विकी है।
होती सीमा-चरम उस में आत्म-उत्सर्ग की है ॥१२॥
सद्यः होती फलित, चित में मोह की मत्तता है।
धीरे धीरे प्रणयबसता, व्यापता है उरों में।
हो जाती हैं विवश अपरा-वृत्तियां मोह-द्वारा।
भावोन्मेषी प्रणय करता सर्वसद् वृत्ति को है ॥१३॥

हो जाते हैं उदय कितने-भाव ऐसे उरों में।
होती है मोह-वश जिन में प्रेम की भ्रान्ति प्रायः।
वे होते हैं न प्रणय न वे है समीचीन होते।
पाई जाती अधिक उन में मोह की वासना है ॥१४॥
हो के उत्कण्ठ प्रिय-सुख की भूयसी-लालसा से।
जो वृत्ती है हृदय-तल की आत्म-उत्सर्ग-शीला।
पुण्याकांक्षा सुयश-रुचि वा धर्म-लिप्सा बिनाही।
ज्ञाताओं ने प्रणयअभिधा दान की है उसी को ॥१५॥
आदौ होता गुण-ग्रहण है उक्त सद् वृत्ति-द्वारा।
हो जाती है उदित उर में फेर आसंग-लिप्सा।
होती उत्पन्न सहृदयता बाद संसर्ग के है!
पीछे स्वो आत्म-सुधि लसती आत्म-उत्सर्गता है ॥१६॥
सद्‌गंधों से मधुर-स्वर से स्पर्श से औ रसों से।
जो हैं प्राणी-हृदय-तल में मोह उद्‌भूत होते।
वे ग्राही हैं यदपि चित्त के रूप के मोहही से।
हो पाते हैं तदपि उतने मत्त-कारी नहीं वे ॥१७॥
व्यापी भी है अधिक उन से रूप का मोह होता।
पाया जाता प्रबल उस का चित्त-चाञ्चल्य भी है।
मानी जाती न छिति-तल में है पतंगोपमाना।
भृंगों मीनों द्विरद मृग की मत्तता प्रीतिमत्ता ॥१८॥
मोहों में है प्रबल सब से रूप का मोह होता।
कैसे होंगे अपर, वह जो प्रेम है हो न पाता।

जो है प्यारा-प्रणय मणि सा कांच से मोह तो है।
ऊंची-न्यारी-रुचिर महिमा मोह से प्रेम को है॥ १९ ॥
ए आंखें हैं जिधर-फिरती चाहती श्याम को हैं।
कानों को भी मुरलि-रव की आज लों लौ लगी है।
कोई मेरे हृदय-तल को पैठ के जो बिलोके।
तो पावेगा लसित उस में कान्ति प्यारी उन्हीं की॥ २० ॥
जो होता है उदित नभ में कौमुदी-कांत आके।
या जो कोई कुसुम बिकसा देखपाती कहीं हूँ।
लोने लोने-हरित-दल के पादपों को बिलोके।
प्यारा प्यारा-बिकच-मुखड़ा है मुझे याद आता॥ २१ ॥
ऊंचे-ऊंचे-शिखर चित की उच्चता हैं दिखाते।
ला देता है परम-दृढ़ता मेरु आगे दृगों के।
नाना-क्रीड़ा निलय-झरना चारु-छींटें उड़ाता।
उल्लासों को कुंवर-वर के चक्षु में है लसाता॥ २२ ॥
जिह्वा नासा श्रवण अथवा नेत्र होते शरीरी।
क्यों त्यागेंगे प्रकृति, अपने कार्य्य को क्यों तजेंगे।
क्यों होवेंगी रहित उर से लालसायें, अतः मैं।
रंगे देती प्रति-दिन उन्हें सात्विकी-वृत्ति में हूँ॥ २३ ॥
शास्त्रों में है कथित प्रभु के शीश औ लोचनों की।
संख्यायें हैं अमित पग औ हस्त भी हैं अनेकों।
सो हो के भी रहित मुख से नेत्र नासादिकों से।
छूता खाता श्रवण करता देखता सूँघता है॥ २४ ॥

ज्ञाताओं ने विशद इस का मर्म्म यों है बताया।
सारे-प्राणी अखिल जग के मूर्त्तियाँ हैं उसी की।
होतीं आँखें-प्रभृति उन की भूरि-संख्या-वती हैं।
सो विश्वात्मा अमित-नयनों-आदि वाला अतः है॥ २५ ॥

ताराओं में तिमिर-हर में वन्हि में औ शशी में।
पाई जाती परम रुचिरा ज्योतियाँ हैं उसी की।
पृथ्वी पानी पवन नभ में पादपों में खगों में।
देखी जाती प्रथित-प्रभुता विश्व में व्याप्त की है॥ २६ ॥

प्यारी-सत्ता जगत-गत की नित्य-लीला-मयी है।
स्नेहों सिक्ता परम-मधुरा पूतता में पगी है!
ऊँची-न्यारी-सरल-सरसा ज्ञान-गर्भा मनोज्ञा।
पूज्या मान्या हृदय-तल की रंजिनी उज्ज्वला है॥ २७ ॥

मैंने बातें कथन जितनी शास्त्र-विज्ञात की हैं।
वे बातें हैं प्रगट करती हैं प्रभू विश्व-रूपी।
पाती हूँ विश्व प्रिय-तम में विश्व में प्राण प्यारा।
ऐसे मैंने जगत-पति को श्याम में है विलोका॥ २८ ॥

शास्त्रों में है लिखित प्रभु की भक्ति निष्काम जो है।
सो दिव्या है मनुज तन की सर्व संसिद्धियों से!
मैं होती हूँ सुखित यह जो तत्वत: देखती हूँ।
प्यारे की औ परम-प्रभु की भक्तियाँ हैं अभिन्ना॥ २९ ॥

द्रुतविलम्बित छंद ।

जगत-जीवन-प्राण-स्वरूप का ।
निज पिता जननी गुरु-आदि का ।
स्व-प्रिय का प्रिय साधन भक्ति है ।
वह अ-काम महा कमनीय है ॥ ३० ॥

श्रवण कीर्त्तन वन्दन दासता ।
स्मरण आत्म-निवेदन अर्चना ।
सहित सख्य तथा पद-सेवना ।
निगदिता नवधा प्रभु-भक्ति है ॥ ३१ ॥

वंशस्थ छंद

बना किसी की यक-मूर्त्ति कल्पिता ।
करे उसी की पद-सेवनादि जो ।
न तुल्य होगा वह बुद्धि-दृष्टि से ।
स्वयं उसी की पद अर्चनादि के ॥ ३२ ॥

मन्दाक्रांता छंद

विश्वात्मा जो परम-प्रभु है रूप तो हैं उसी के ।
सारे-प्राणी सरि गिरि लता वेलियां वृक्ष-नाना ।
रक्षा पूजा उचित उनका यत्न सन्मान सेवा ।
भावों सिक्ता परम-प्रभु की भक्ति-सर्वोत्तमा है ॥ ३३ ॥

जीसे वार्ते-सकल सुनना आर्त्त-उत्पीड़ितों की ।
रोगी-प्राणी व्यथित जन की लोकउन्नायकों की ।

सच्छास्त्रों का श्रवण सुनना वाक्य सत्संगियों का
मानी जाती श्रवण-अभिधा-भक्ति है सज्जनों में ॥ ३४ ॥
सोये जागे, तम-पतित की दृष्टि में ज्योति आवे ;
भूले आवें सु-पथ पर औ ज्ञान उन्मेष होवे ।
ऐसे गाना कथन करना दिव्य-न्यारे गुणों का ।
है प्यारी भक्ति प्रभु-वर की कीर्त्तनोपाधि वाली ॥ ३५ ॥
विद्वानों के स्व-गुरु-जन के देश के प्रेमिकों के ।
ज्ञानी दानी सु-चरित गुणी राज-तेजीयसों के ।
आत्मोत्सर्गी विबुध-जन के देव-सद्विग्रहों के ।
आगे होना नमित प्रभु की भक्ति है वन्दनाख्या ॥ ३६ ॥
जो बातें हैं भव-हित-करी सर्व-भूतोपकारी ।
जो चेष्टायें मलिन-गिरती जातियां हैं उठाती ।
हाथों-बांधे सतत उन के अर्थ उत्सर्ग होना ।
विश्वात्मा भक्ति भव सुखदा दासता संज्ञका है ॥ ३७ ॥
कंगालों की विवश विधवा औ अनाथाश्रितों की ।
उद्विग्नों की सुरति करना औ उन्हें त्राण देना ।
सत्कार्य्यों का विविध-पर की पीर का ध्यान आना ।
भाखी जाती स्मरण-अभिधा भक्ति है भावुकों में ॥ ३८ ॥

द्रुतविलम्बित छन्द

विपत-सिन्धु पड़े नर-वृन्द के ।
दुख-निवारण औ हित के लिए ।

अरपना अपने तन प्राण को।
प्रथित-आत्म निवेदन-भक्ति है ॥३९॥

मन्दाक्रांता छन्द

संत्रस्तों को शरण मधुरा-शान्ति संतापितों को।
निर्बोधों को सु-मति बिबिधा-औषधी पीड़ितों को।
पानी देना तृषित-जन को अन्न भूखे नरों को।
सर्वात्मा भक्ति अति रुचिरा अर्चना-संज्ञका है ॥४०॥
नाना-प्राणी तरु गिरि लता वेलि की बात ही क्या।
जो है भू में गगन-तल में भानु से मृत्कणों लौं।
सद्भावों के सहित उन से कार्य्य प्रत्येक लेना।
सच्चा होना सुहृद उन का भक्ति है सख्य-नाम्नी ॥४१॥

बसंततिलका छन्द

जो प्राणिपुंज निज कर्म्म निपीड़नों से।
नीचे समाज-वपु के पग लौं पड़ा है।
देना उसे शरण मान प्रयत्न-द्वारा।
है भक्तिलोक पति की पद सेवनाख्या ॥४२॥

मन्दाक्रांता छन्द

जो इच्छा है परम-प्रिय की जो अनुज्ञा हुई है।
मैं प्राणों के अछत उस को भूल कैसे सकूंगी।
यों भी मेरे परम-व्रत के तुल्य बातें यही थीं।
हो जाऊंगी अधिक अब मैं दत्त-चित्ता इन्हीं में ॥४३॥
मैंने पांवों निकट प्रिय के बैठ, है भक्ति सीखी।

यत्नों-द्वारा विविध उस का मर्म्म है बूझ पाया।
चेष्टा ऐसी सतत अपनी बुद्धिद्वारा-करूंगी।
भूलूं चूकूं न इन व्रत की पूत-कार्य्यावली में ॥४४॥
सत्कर्मी हैं परम-शुचि हैं आप ऊधो सुधी हैं।
अच्छा होगा सनय यह जो आप चाहें प्रभू से।
आज्ञा भूलूं न प्रिय-तम की विश्व के काम आऊं।
मेरा कौमार-व्रत भव में पूर्णता प्राप्त होवे ॥४५॥

द्रुतविलम्बित छन्द

चुप हुई इतना कह मुग्ध हो।
व्रज कुमारि विभूषण राधिका।
चरण की रज ले हरिबंधु भी।
परम-शान्ति समेत विदा हुए ॥४६॥

(प्रिय-प्रवास से)
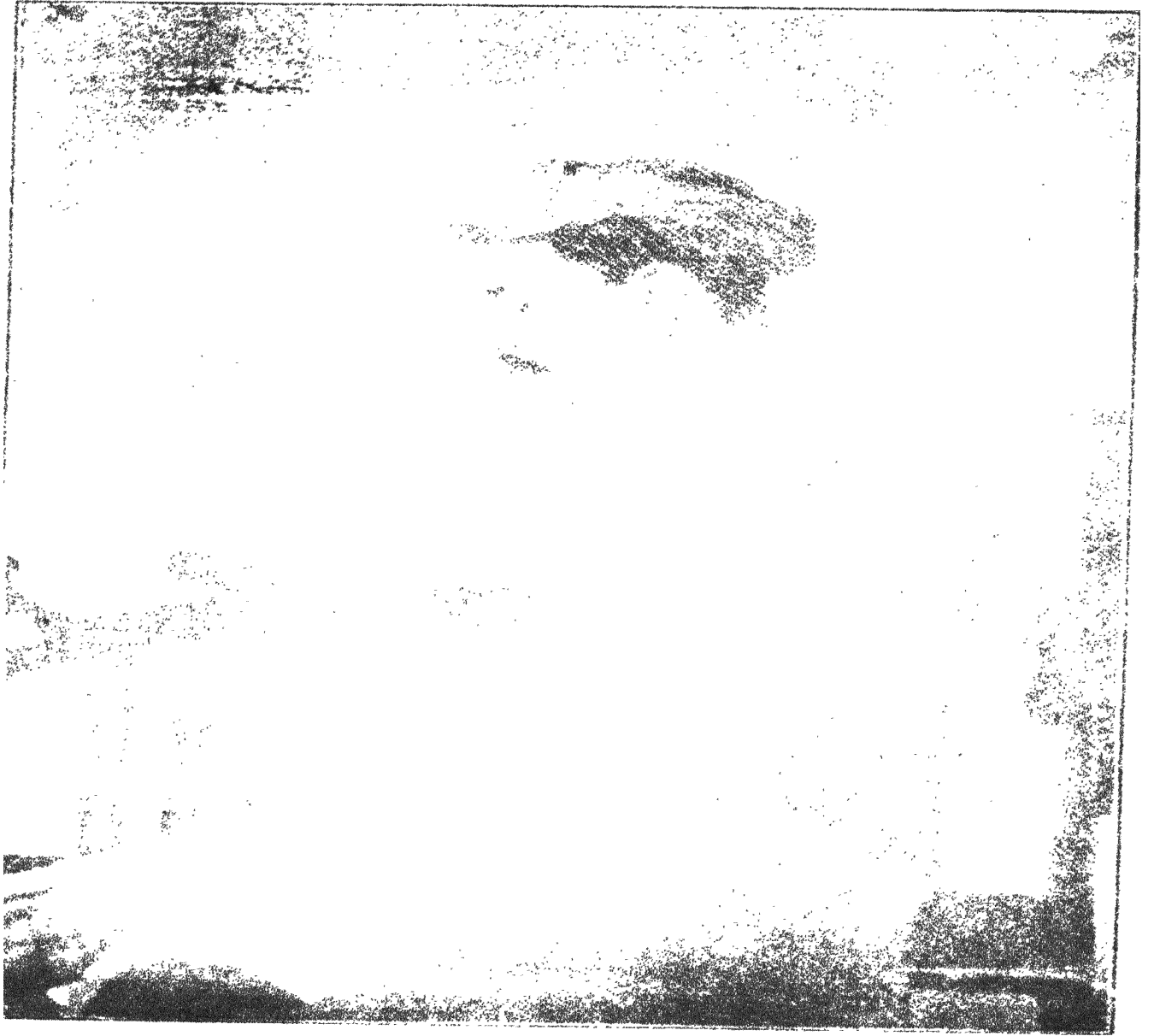
मैथिलीशरण गुप्त

बाबू मैथिलीशरण गुप्त

झाँसी के चिरगाँव में इनका जन्म संवत १९४३ में हुआ था। खड़ी बोली काव्य के क्षेत्र में गुप्त जी का स्थान बहुत ऊँचा है। क्या मौलिक और क्या अनूदित प्रायः सभी प्रकार के काव्यों से आपने हिन्दी साहित्य को भरने की कोशिश की है। अनुवादों में माइकेल मधुसूदनदत्त के सर्वोत्तम काव्य 'मेघनाद-वध', तथा 'वीरांगना' को हिन्दी में आपने इतनी सफलता के साथ अनूदित किया है कि कुछ अंशों में ये अनुवाद मौलिक से भी बढ़ गए हैं। मौलिक ग्रन्थों में भी आप के साकेत, यशोधरा तथा भारत-भारती और जयद्रथ-वध इत्यादि काव्य बड़ा ऊँचा स्थान रखते हैं।

जनता में काव्य द्वारा राष्ट्रीय भाव भरने वाले आप शायद सब से पहले हो एवं सब से अधिक प्रभावशाली कवि ठहरेंगे। आज से लगभग १२ या १८ वर्ष पहले भारत-भारती का कुछ न कुछ अंश तो प्रायः प्रत्येक भारतवासी के ही मुख पर रहता था। आप हिन्दी के राष्ट्रीय कवि कहे जाते हैं।

वन में सीता

(१)

चल, चपल कलम, निज चित्रकूट चल देखें,
प्रभु-चरण-चिन्ह पर सफल भाल-लिपि लेखें।
सम्प्रति साकेत समाज वहीं है सारा,
सर्वत्र हमारे संग स्वदेश हमारा।
तरु-तले विराजे हुए,—शिला के ऊपर,
कुछ टिके,—धनुष की कोटि टेक कर भू पर।
निज लक्ष्य-सिद्धि-सी, तनिक घूम कर तिरछे,
जो सींच रही थीं पर्णकुटी के
उन सीता को, निज मूर्तिमती माया को,
प्रणयप्राणा को और कान्तकाया को,
यों देख रहे थे राम अटल अनुरागी,
योगी के आगे अलख-जोति ज्यों जागी!
अंचल-पट कटि में खोंस, कछोटा मारे,

मैथिलीशरण गुप्त

सीता माता थीं आज नई धज धारे।
अंकुर-हितकर थे कलश-पयोधर पावन,
जन-मातृ-गर्वमय कुशल वदन भव-भावन।
पहने थीं दिव्य दुकूल अहा! वे ऐसे,
उत्पन्न हुआ हो देह-संग ही जैसे।
कर, पद, मुख तीनों अतुल अनावृत-पट से;
थे पत्र-पुंज में अलग प्रसून प्रकट-से!
कन्धे ढक कर कच छहर रहे थे उनके,-
रक्षक तक्षक-से लहर रहे थे उनके।
मुख घर्म-बिन्दु-मय ओस भरा अम्बुज सा
पर कहाँ कण्टकित नाल सुपुलकित भुज सा?
पाकर विशाल कच भार एड़ियाँ धँसतीं,
तब नखज्योति-मिष, मृदुल अँगुलियाँ हँसतीं।
पर पग उठने में भार उन्हीं पर पड़ता,
तब अरुण एड़ियों से सुहास सा झड़ता!
क्षोणी पर जो निज छाप छोड़ते चलते,
पद पद्मों में मंजीर-मराल मचलते।
रुकने झुकने में ललित लंक लच जाती,
पर अपनी छवि में छिपी आप बच जाती।
तनु गौर केतकी कुसुम कली का गाभा,
थी अंग-सुरभि के संग तरंगित आभा।
भौंरों से भूषित कल्प-लता सी फूली,

मैथिलीशरण गुप्त

गाती थीं गुनगुन गान भान-सा भूली:—
"निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।
सम्राट स्वयं प्राणेश, सचिव देवर हैं,
देते आकर आशीष हमें मुनिवर हैं।
धन तुच्छ यहाँ,-यद्यपि असंख्य आकर हैं,
पानी पीते मृग-सिंह एक तट पर हैं।

सीता रानी को यहाँ लाभ ही लाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

क्या सुन्दर लता-वितान तना है मेरा,
पुंजाकृति गुंजित कुंज घना है मेरा।
जल निर्मल, पवन पराग-सना है मेरा,
गढ़ चित्रकूट दृढ़-दिव्य बना है मेरा।

प्रहरी निर्झर, परिखा प्रवाह की काया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

औरों के हाथों यहाँ नहीं पलती हूँ,
अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूँ।
श्रमवारिविन्दुफल स्वास्थ्यशुक्ति फलती हूँ,
अपने अंचल से व्यजन आप झलती हूँ।

तनु-लता-सफलता-स्वादु आज हो आया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

जिनसे ये प्रणयी प्राण त्राण पाते हैं,
जी भर कर उनको देख जुड़ा जाते हैं।
जब देव कि देवर विचर-विचर आते हैं,
तब नित्य नये दो-एक द्रव्य लाते हैं।
उनका वर्णन ही बना विनोद सवाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।
किसलय-कर स्वागत-हेतु हिला करते हैं,
मृदु मनोभाव-सम सुमन खिला करते हैं।
डाली में नव फल नित्य मिला करते हैं,
तृण तृण पर मुक्ता-भार झिला करते हैं।
निधि खोले दिखला रही प्रकृति निज माया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।
कहता है कौन कि भाग्य ठगा है मेरा ?
वह सुना हुआ भय दूर भगा है मेरा।
कुछ करने में अब हाथ लगा है मेरा,
वन में ही तो गार्हस्थ्य जगा है मेरा।
वह वधू जानकी बनी आज यह जाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।
फल फूलों से हैं लदी डालियाँ मेरी,
वे हरी पत्तलें, भरी थालियाँ मेरी।
मुनि बालाएं हैं यहाँ आलियाँ मेरी,
तटनी की लहरें और तालियाँ मेरी।

मैथिलीशरण गुप्त

क्रीड़ा सामग्री बनी स्वयं निज छाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

मैं पली पक्षिणी विपिन कुंज-पिंजर की,
आती है कोटर-सदृश मुझे सुध घर की।
मृदु तीक्ष्ण वेदना एक एक अन्तर की,
बन जाती है कल गीति समय के स्वर की।

कब उसे छेड़ यह कंठ यहाँ न अघाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

गुरुजन-परिजन सब धन्य ध्येय हैं मेरे,
ओषधियों के गुण-विगुण ज्ञेय हैं मेरे।
वन-देव-देवियाँ आतिथेय हैं मेरे,
प्रिय-संग यहाँ सब प्रेय-श्रेय हैं मेरे।

मेरे पीछे ध्रुव-धर्म स्वयं ही धाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

नाचो मयूर, नाचो कपोत के जोड़े,
नाचो कुरंग, तुम लो उड़ान के तोड़े।
गाओ दिवि, चातक, चटक, भृंग भय छोड़े,
वैदेही के वनवास-वर्ष हैं थोड़े।

तितली, तूने यह कहाँ चित्रपट पाया?
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

आओ कलापि, निज चन्द्रकला दिखलाओ,

गौरव क्या है, जन-भार वहन करना ही,
सुख-क्या है, बढ़ कर दुःख सहन करना ही।"
कलिकाएँ खिलने लगीं, फूल फिर फूले,
खग-मृग भी चरना छोड़ सभी सुध भूले।
सन्नाटे में था एक यही रव छाया—
"मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया!
देवर के शर की अनी बना कर टाँकी,
मैंने अनुजा की एक मूर्ति है आँकी।
आँसू नयनों में, हँसी वदन पर बाँकी,
काँटे समेटती, फूल छींटती झाँकी!
निज मन्दिर उसने यही कुटीर बनाया!
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।"

"हा! ठहरो, बस, विश्राम प्रिये, लो थोड़ा,
हे राजलक्ष्मि, तुमने न राम को छोड़ा।
श्रम करो, स्वेदजल स्वास्थ्य-मूल में डालो,
पर तुम यति का भी नियम स्वगति में पालो।
तन्मय हो तुम-सा किसी कार्य में कोई,
तुमने अपनी भी आज यहाँ सुध खोई।
हो जाना लता न आप लता-संलग्ना,
करतल तक तो तुम हुई नवल-दल-मग्ना!
ऐसा न हो कि मैं फिरूँ खोजता तुम को,
है मधुप ढूँढ़ता यथा मनोज्ञ कुसुम को!

वह सीताफल जब फलै तुम्हारा चाहा,—
मेरा विनोद तो सफल,—हँसीं तुम आहा !"
"तुम हँसो, नाथ, निज इन्द्रजाल के फल पर,
पर ये फल होंगे प्रकट सत्य के बल पर ।
उनमें विनोद, इनमें यथार्थता होगी,
मेरे श्रम-फल के रहें सभी रस-भोगी ।
तुम मायामय हो तदपि बड़े भोले हो,
हँसने में भी तो झूठ नहीं बोले हो ।
हो सचमुच क्या आनन्द, छिपूँ मैं वन में,
तुम मुझे खोजते फिरो गभीर गहन में !"
"आमोदिनी, तुमको कौन छिपा सकता है ?
अन्तर को अन्तर अनायास तकता है ।
बैठी है सीता सदा राम के भीतर,
जैसे विद्युद्द्युति घनश्याम के भीतर ।"

[साकेत से]

जयशंकरप्रसाद

जयशंकरप्रसाद

नाटक-रचना का प्रारम्भ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के समय से ही हो जाता है। उस काल में अनेक नाटक लिखे तथा अनूदित किए गये; किन्तु उच्च विचारों, भावावेश तथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से वे महत्वपूर्ण नहीं हैं। बाबू जयशंकरप्रसाद के नाटकों द्वारा नाटक-साहित्य में एक नवीन जागृति हुई है। 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'अजातशत्रु', 'एक घूँट', 'कामना' इनके उच्च कोटि के नाटक है। काव्य के क्षेत्र में भी प्रसाद जी ने हिन्दी में युगान्तर उपस्थित किया है। उन्होंने हिन्दी में रहस्य वाद की अवतारणा की है। उनकी कविताएं गम्भीर, गुंथी हुई पर मधुर, दार्शनिक, रहस्य पूर्ण किन्तु मर्मस्पर्शिनी और आकाश के समान उन्मुक्तविहारिणी होती है। उनकी रचना में उर्दू पदावली का अभाव है, शैली शुद्ध संस्कृत शब्दों के अनुकूल है। न तो क्लिष्ट ही है न साधारण ही। यद्यपि प्रसाद जी ने संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग कम किया है; किन्तु भाषा गम्भीर, विशुद्ध और परिमार्जित रूप में अंकित हुई है। जहाँ उन्होंने भावात्मक विचारों का कथन किया है वहाँ उन्होंने सरल वाक्यों का प्रयोग किया है। प्रसाद जी की रचनाओं में मुहाविरों की प्रायः कमी पाई जाती है—फिर भी माधुर्य

और व्यंजना में न्यूनता नहीं आने पाई। धारा-प्रवाह का गुण प्रसाद जी की भाषा में अधिक पाया जाता है। ऐसे स्थल पर जहाँ भावावेश होता है। रोचक विवरण देने में लेखक ने सुन्दर पदावली और छोटे वाक्यों का आश्रय लिया है। भाव प्रायः परिपक्व और ओजस्वी हैं। काव्य और नाटकों के अतिरिक्त उन्होंने मौलिक कहानियां और उपन्यास भी लिखे हैं। उनकी भी शैली भावावेश की ओर अधिक है। मानव हृदय की अनुभूतियों का चित्रण करने में प्रसाद जी सफल रचनाकार हैं। विषय-निर्वाचन, शब्दचयन और वाक्य-विन्यास सभी उनकी कहानियों में सुन्दर हैं। चमत्कारिकता के साथ साथ वास्तविकता के अंकन में भी उनकी गद्य-शैली विशेष सफल हुई है। इस प्रकार प्रसाद जी की गद्य-रचना-शैली चमत्कारपूर्ण, सरस और मार्मिक है। आँसू, झरना, और अन्य कविता संग्रह उनके निकल चुके हैं। हाल ही में प्रसिद्ध काव्य कामायनी निकला, जिस पर मंगलाप्रसाद पारितोषक उन्हें मिला।

प्रसादजी ने सं० १९४६ में जन्म लिया और राष्ट्र-भाषा के दुर्भाग्य से ४८ वर्ष की आयु में ही उनका देहावसान हो गया।

चिन्ता।

हिम गिरि के उत्तुंग शिखर पर,
बैठ शिला की शीतल छाँह,
एक पुरुष, भीगे नयनों से,
देख रहा था प्रलय प्रवाह!
नीचे जल था, ऊपर हिम था,
एक तरल था, एक सघन;
एक तत्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन।
दूर दूर तक विस्तृत था हिम
स्तब्ध उसी के हृदय समान;
नीरवता सी शिला चरण से
टकराता फिरता पवमान।
तरुण तपस्वी-सा वह बैठा,
साधन करता सुर-श्मशान;

नीचे प्रलय सिंधु लहरों का,
होता था सकरुण अवसान।
उसी तपस्वी से लम्बे, थे
देवदारु दो चार खड़े;
हुए हिम-धवल, जैसे पत्थर
बन कर ठिठुरे रहे अड़े।
अवयव की दृढ़ मांस-पेशियाँ,
ऊर्जस्वित था वीर्य्य अपार;
स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का
होता था जिनमें संचार।
चिंता-कातर बदन हो रहा,
पौरुष जिसमें ओत प्रोत;
उधर उपेक्षामय यौवन का
बहता भीतर मधुमय स्रोत।
बँधी महा-वट से नौका थी
सूखे में अब पड़ी रही;
उतर चला था वह जल-प्लावन,
और निकलने लगी मही।
निकल रही थी मर्म वेदना,
करुणा विकल कहानी सी;
वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही,
हँसती सी पहचानी सी।

"ओ चिंता की पहली रेखा,
अरी विश्व वन की व्याली;
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथम कंप सी मतवाली!
हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा!
हरी-भरी सी दौड़-धूप, ओ
जल-माया की चल-रेखा!
इस ग्रह कक्षा की हलचल! री
तरल गरल की लघु लहरी;
जरा अमर जीवन की, और न
कुछ सुनने वाली, बहरी!
अरी व्याधि की सूत्र-धारिणी!
अरी आधि, मधुमय अभिशाप!
हृदय-गगन में धूमकेतु सी,
पुण्य सृष्टि में सुंदर पाप।
मनन करावेगी तू कितना?
उस निश्चित जाति का जीव,
अमर मरेगा क्या? तू कितनी
गहरी डाल रही है नीव।
आह! घिरेगी हृदय लहलहे
खेतों पर करका-घन सी;

छिपी रहेगी अंतरतम में
सब के तू निगूढ़ धन सी।
बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिंता
तेरे हैं कितने नाम !
अरी पाप है तू, जा चल, जा
यहाँ नहीं कुछ तेरा काम।
विस्मृति आ, अवसाद घेर ले,
नीरवते ! बस चुप कर दे;
चेतनता चल जा, जड़ता से
आज शून्य मेरा भर दे।"
'चिंता करता हूँ मैं जितनी
उस अतीत की, उस सुख की;
उतनी ही अनंत में बनती
जातीं रेखाएं दुख की।
आह सर्ग के अग्रदूत ! तुम
असफल हुए, विलीन हुए;
भक्षक या रक्षक, जो समझो,
केवल अपने मीन हुए।
अरी आँधियो ! ओ बिजली की
दिवा-रात्रि तेरा नर्त्तन,
उसी वासना की उपासना,
वह तेरा प्रत्यावर्त्तन।

मणि-दीपों के अंधकार मय
अरे निराशा पूर्ण भविष्य !
देव-दम्भ के महा मेघ में
सब कुछ ही बन गया हविष्य ।
अरे अमरता के चमकीले
पुतलो ! तेरे वे जय-नाद;
काँप रहे हैं आज प्रतिध्वनि
बन कर मानो दीन विषाद—।
प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित
हम सब, भूले थे मद में;
भोले थे, हाँ तिरते केवल
सब विलासिता के नद में।
वे सब डूबे; डूबा उनका
विभव, बन गया पारावार;
उमड़ रहा है देव सुखों पर
दुःख जलधि का नाद अपार।"

(कामायनी से)

आह्वान

हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती—

अमर्त्य वीरपुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पन्थ है—बढ़े चलो बढ़े चलो।
असंख्य कीर्तिरश्मियाँ,
विकीर्ण दिव्यदाह-सी।
सपूत मातृभूमि के—
रुको न शूर साहसी !
अराति सैन्य-सिन्धु में—सुवाड़वाग्नि से जलो,
प्रवीर हो जयी बनो—बढ़े चलो बढ़े चलो॥

हमारा देश

अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा
सरस तामरस गर्भ विभा पर—नाच रही तरुशिखा मनोहर
छिटका जीवन हरियाली पर—मङ्गल कुंकुम सारा
लघु सुरधनु से पंख पसारे—शीतल मलय समीर सहारे
उड़ते खग जिस ओर मुँह किये—समझ नीड़ निज प्यारा
बरसाती आँखों के बादल—बनते जहाँ भरे करुणा जल
लहरें टकरातीं अनन्त की—पाकर जहाँ किनारा
हेम कुम्भ ले उषा सवेरे—भरती ढुलकाती सुख मेरे
मंदिर ऊँघते रहते जब—जग कर रजनीभर तारा

गान

तुम कनक किरण के अन्तराल में
लुक-छिप कर चलते हो क्यों ?

नत मस्तक गर्व वहन करते
यौवन के घन, रस कन ढरते
हे लाज-भरे सौन्दर्य,
बता दो मौन बने रहते हो क्यों ?
अधरों के मधुर कगारों में
कल-कल ध्वनि की गुञ्जारों में
मधु सरिता-सी यह हँसी,
तरल अपनी पीते रहते हो क्यों ?
बेला विभ्रम की बीत चली
रजनीगंधा की कली खिली-
अब सान्ध्य मलय-आकुलित
दुकूल कलित हो, यों छिपते हो क्यों ?

—:o:

रामनरेश त्रिपाठी

इनका जन्म संवत् १६४६ वि० में कोरईपुर जि० जौनपुर में हुआ था। इन्होंने मिलन, पथिक, तथा स्वप्न नामक अच्छे काव्य लिखे हैं। इनकी कविता-कौमुदी नामक संग्रहमाला विशेष उल्लेखनीय है। गद्य में व्यङ्गात्मक शैली इनकी बड़ी ही सुन्दर हुआ करती है जिस के कुछ नमूने, स्वप्नों के चित्रों में देखे जा सकते हैं। इन्होंने अपनी ही योग्यता, परिश्रम तथा अध्यवसाय के बल पर उन्नति की है। प्रयाग का हिन्दी-मन्दिर इन्हीं का है। इनकी कविताओं का एक छोटा सा संग्रह 'मानसी' नाम से निकला था यह कविता उसी से ली गई है। इसमें कवि उर्दू ग़ज़ल में अपने भावों को प्रकट करता है, तथा उस ग़ज़ल का कलेवर भी हिन्दी की सरस शब्दावली से ढाँका गया है।

मुनि का पथिक को उपदेश

[१]

मध्य निशा, निर्मल निरभ्र नभ, दिशा विराव-विहीना।
विलसित था अम्बर के उर पर अद्भुत एक नगीना।
उसकी विशद प्रभा सर, निर्झर, तृण, लतिका, द्रुम, दल में।
करती थी विश्राम, परम अभिराम निशीथ-कमल में॥

[२]

कुश मेखला विशुद्ध अजिन कौपीन कसे कृश कटि में।
आये वहाँ तपोधन सत्तम एक साधु मृदु गति में।
भस्मावृत निर्धूम अग्नि-सा श्मश्रु-युक्त मुख उनका।
द्योतक था महान महिमामय तप, विराग, सद्गुन का ५

[३]

"कष्ट दिया मैंने जो तुमको उसे न मन में लाना।
आओ, बैठो, सुनो, तुम्हें है कुछ रहस्य बतलाना॥"

एक शिला पर बैठ गए मुनि परम विरक्त विरागी।
बैठ गया सामने पथिक भी अनुरागी गृह-त्यागी॥

[४]

सुनने को अति नम्रभाव से स्थित हो उत्सुक मन से।
पथिक देखने लगा साधु को श्रद्धा-सिक्त नयन से।
बोले मुनि—"हे पुत्र! जगत को तुमने त्याग दिया है।
प्रेम-स्वाद चख मोहित हो वन में विश्राम लिया है॥

[५]

मृगमाला-विहरित कल कोकिल-कूजित कुसुमित वन को।
ललित लहलही लता-लसित अलि-मुखरित कुञ्ज-भवन को।
तृण संकुलित हरित वसुमति गिरि लहर उदधि नभ घन को।
देख हुआ कौतूहल, अति आश्चर्य तुम्हारे मन को॥

[६]

देख जिन्हें निस्पन्द हुए हो त्याग कर्म-सङ्कर-को।
हुए तुम्हारे लिए कभी थिर वे भी क्या पलभर को?
अपनी अद्भुत शक्ति भूल अज्ञानी सा वन वन में।
फिरते हो तुम चकित विमोहित प्रकृति-रूप-दर्शन में॥

[७]

"जग में सचर अचर जितने हैं सारे कर्म निरत हैं।
धुन है एक न एक सभी को सबके निश्चित व्रत हैं।
जीवन भर आतप सह वसुधा पर छाया करता है।
तुच्छ पत्र की भी स्वकर्म में कैसी तत्परता है॥

[८]

"सिन्धु विहङ्ग तरङ्ग-पङ्ख को फड़काकर प्रति क्षण में।
है निमग्न नित भूमि-अण्ड के सेवन में—रक्षण में।
कोमल मलय-पवन घर-घर में सुरभि बांट आता है।
सस्य सींचने घन जीवन धारण कर नित जाता है।"

[९]

"रवि जग में शोभा सरसाता सोम सुधा बरसाता।
सब हैं लगे कर्म में कोई निष्क्रिय दृष्टि न आता।
है उद्देश्य नितान्त तुच्छ तृण के भी लघु जीवन का।
उसी पूर्ति में वह करता है अन्त कर्ममय तन का।।"

[१०]

"तुम मनुष्य हो, अमित बुद्धि-बल विलसित जन्म तुम्हारा।
क्या उद्देश्य-रहित है जग में तुमने कभी विचारा?
बुरा न मानो, एक बार सोचो तुम अपने मन में।
क्या कर्त्तव्य समाप्त कर लिए तुमने निज जीवन में?"

[११]

"जिस पर गिरकर उदर दरी से तुमने जन्म लिया है।
जिसका खाकर अन्न सुधा-सम नीर समीर पिया है।
जिस पर खड़े हुए, खेले, घर बना बसे सुख पाए।
जिसका रूप विलोक तुम्हारे दृग, मन, प्राण जुड़ाए।।"

[१२]

"वह सनेह की मूर्ति दयामयि माता-तुल्य मही है।
उसके प्रति कर्त्तव्य तुम्हारा क्या कुछ शेष नहीं है?
हाथ पकड़ कर प्रथम जिन्होंने चलना तुम्हें सिखाया।
भाषा सिखा हृदय का अद्भुत रूप स्वरूप दिखाया॥

[१३]

"जिनकी कठिन कमाई का फल खाकर बड़े हुए हो।
दीर्घ देह ले बाधाओं में निर्भय खड़े हुए हो।
जिनके पैदा किए, बुने वस्त्रों से देह ढके हो।
आतप-वर्षा-शीत-काल में पीड़ित हो न सके हो॥'

[१४]

क्या उनका उपकार-भार तुम पर लवलेश नहीं है?
उनके प्रति कर्त्तव्य तुम्हारा क्या कुछ शेष नहीं है?
सतत ज्वलित दुख दावानल में जग के दारुन रन में।
छोड़ उन्हें कायर बनकर तुम भाग बसे निर्जन में॥

[१५]

'केवल सुनकर कष्ट. तुम्हारा विचलित हुआ हृदय है।
मनुष्यता के लिए घोर लज्जा, अति निंद्य विषय है।
शुद्ध प्रेम के मर्म, प्रेम की महिमा से परिचित हो।
प्रेम मार्ग के पथिक, प्रेम-पीड़ा से व्याकुल-चित हो।

[१६]

"तुम्हें उचित था, तुम उदार बनकर घर-घर में जाते।
अमित प्रेम-निधि एक-एक प्राणी को मुफ़्त लुटाते।
किन्तु कृपण बन सब समेट सानन्द स्वयं रहते हो।
इस पर भी तुम स्वार्थ-ग्रसित कुत्सित जग को कहते हो!"

[१७]

"केवल अपने लिए सोचते मौज भरे गाते हो।
जीते, खाते, सोते, जगते, हँसते सुख पाते हो।
जग से दूर, स्वार्थ-साधन ही सतत तुम्हारा यश है।
सोचो तुम्हीं, कौन जन जग में तुम-सा स्वार्थ विवश है!"

[१८]

"सद्गुण, साहस, सत्य, शूरता, लोकोत्तर उत्तमता।
पौरुष, प्रतिभा, प्रीति, प्राण, प्रभुता, पर-पालन-क्षमता।
क्षमा, शान्ति, करुणा, उदारता, श्रद्धा, भक्ति, विनयिता।
सज्जनता, शुचिता, मनस्विता, मेधा, मन, निर्भयता॥"

[१९]

"यह सम्पत्ति धरोहर प्रभु की तुम्हें मिली धरने को।
अवसर पर प्रस्तुत रख जग-हित में वितरण करने को।
सो तुम सकल चुराकर जग से भाग बसे निर्जन में।
प्रभु से यह विश्वासघात करते न डरे तुम मन में!"

[२०]

'त्राहि त्राहि सब ओर मची थी जहाँ प्राणि-मण्डल में।
आँखों ने देखी क्या हित की अनुपस्थिति उस थल में?
सदुपदेश से सफल हुई क्या भाषण-शक्ति तुम्हारी?
दयावान कर सकी किसी निष्ठुर को भक्ति तुम्हारी?"

[२१]

"आवश्यकता पुकार को श्रुति ने श्रवण किया है?
कहो, करों ने आगे बढ़ किसको साहाय्य दिया है?
आर्त्तनाद तक कभी पदों ने क्या तुमको पहुँचाया?
क्या नैराश्य-निमग्न जनों को तुमने कण्ठ लगाया?"

[२२]

"कभी उदर ने भूखे जन को प्रस्तुत भोजन पानी,
देकर मुदित भूख के सुख की क्या महिमा है जानी?
मार्ग-पतित असहाय किसी मानव का भार उठा के।
पीठ पवित्र हुई क्या सख से उसे सदन पहुँचा के?"

[२३]

"मस्तक ऊँचा हुआ तुम्हारा कभी जाति-गौरव से?
अगर नहीं तो देह तुम्हारी तुच्छ अधम है शव से।
भीतर भरा अनन्त विभव है उसकी कर अवहेला।
बाहर सुख के लिए अपरिमित तुमने सङ्कट झेला।"

[२४]

"जिसे प्रेम से बहुत समीप सहज ही पा सकते थे।
अन्धे-सा उसको टटोलते अब तक तुम थकते थे।
तुम में अद्भुत शक्ति, अलौकिक अतिशय अधिक प्रकृति से।
कर सकते हो चकित प्रकृति को निज साधारण कृति से।"

[२५]

"यदि तुम अपनी अमित शक्ति को समझ काम में लाते।
अनुपम चमत्कार अपना तुम देख परम सुख पाते।
यदि उद्दीप्त हृदय में सच्चे सुख की हो अभिलाषा।
वन में नहीं, जगत में जाकर करो प्राप्ति की आशा॥"

[२६]

"यह संसार मनुष्य के लिए एक परीक्षा-स्थल है।
दुख हैं प्रश्न कठोर, देखकर होती बुद्धि विकल है।
किन्तु स्वात्म-बल-विज्ञ सत्पुरुष ठीक पहुँच अटकल से।
हल करते हैं प्रश्न सहज में अविरल मेधा-बल से।"

[२७]

"यही लोक-कल्याण-कामना, यही लोक-सेवा है।
यही अमर करनेवाले यश-सुरतरु का मेवा है।
जाओ पुत्र! जगत में जाओ, व्यर्थ न समय गँवाओ।
सदा लोक-कल्याण-निरत हो जीवन सफल बनाओ॥"

[२८]

"दुख में बन्धु, वैद्य पीड़ा में, साथी घोर विपद में।
दुसह दीनता में आश्रय, उत्साह निराशा-नद में।
भ्रम में ज्योति, सुमति सम्पति में, दृढ़ निश्चय संशय में।
छल में क्रान्ति, न्याय प्रभुता में, अटल धैर्य बन भय में॥"

[२९]

"जनता के विश्वास कर्म मन ध्यान श्रवण भाषण में।
वास करो, आदर्श बनो, विजयी हो जीवन-रण में
अति अशान्त दुखपूर्ण विशृङ्खल क्रान्ति उपासक जग में।
रखना अपनी आत्म-शक्ति पर दृढ़ निश्चय प्रति-पग में।"

[३०]

"जग की विषम आँधियों के झोंके सम्मुख हो सहना।
स्थिर उद्देश्य-समान और विश्वास-सदृश दृढ़ रहना।
जाग्रत नित रहना उदारता-तुल्य असीम हृदय में।
अन्धकार में शान्त चन्द्र-सा ध्रुव-सा निश्चल भय में।"

[३१]

"तुम्हें स्मरण करके उदार, संयमी सच्चरित जन हों।
पर-दुख देख दूर करने को उत्सुकतामय मन हों।
जनता सुनकर नाम तुम्हारा एक भाव में जागे।
सत्य न्याय के संरक्षण में मुदित प्राण तक त्यागे॥"

[३२]

"जग में सुख की प्राप्ति के लिए एक सहायक दुख है।
वही जगाता है सद्‌गुण को सद्‌गुण लाता सुख है।
बाधा, विघ्न, बिपत्ति, कठिनता जहाँ-जहाँ सुन पाना।
सबके बीच निडर हो जाना दुख को गले लगाना॥"

[३३]

"गौर श्याम, उत्तम जघन्य, कुत्सित कुरूप सुन्दर का।
होता नहीं विचार प्रेम के शासन में निज पर का।
घृणित अछूत अकिञ्चन जग में जो जन है जितना ही।
तुमसे है वह प्रेम-प्राप्ति का पात्र अधिक उतना ही॥"

[३४]

"सदा लोक-सौन्दर्य-वृद्धि की कवि-सम चिन्ता करना।
मत दुख-सुख-विकार-वश होना प्रतिभा से पद धरना।
जो कहते हो जगत महा माया है, भीषण भ्रम है।
इस विचार में तुमको ही धोखा है, भ्रान्ति विषम है॥"

[३५]

"जगन्नियंता की इच्छा से यह संसार बना है।
उसकी ही क्रीड़ा का रूपक यह समस्त रचना है।
है यह कर्म-भूमि जीवों की यहाँ कर्मच्युत होना।
धोखे में पड़ना, अलभ्य अवसर से है कर धोना॥"

[३६]

"एक अनन्त शक्ति वसुधा का सञ्चालन करती है।
वह स्वतन्त्र इच्छा से लय, उद्भव, पालन करती है।
उसी शक्ति से ग्रह नियमित कक्षा में चकराते हैं।
किन्तु चीरकर महाशून्य को केतु निकल जाते हैं।"

[३७]

"उसी शक्ति से सुन्दर घन से सुधा-बिन्दु झड़ता है।
करता हाहाकार बज्र पृथ्वी पर आ पड़ता है।
उसी शक्ति की सुखद प्रेरणा शुद्ध आत्म-सम्मति है।
करो उसी का कर्म, उसी की नियत समस्त प्रगति है॥"

[३८]

"परम विचित्र यन्त्र यह जग है उसी शक्ति से चलता।
मत करना अभिमान मिले जो तुमको कभी सफलता।
यद्यपि सब जग का हित-चिन्तन सबको आवश्यक है।
पर प्रत्येक मनुज पर पहला देश जाति का हक है॥"

[३९]

"पैदा कर जिस देश जाति ने तुमको पाला पोसा।
किए हुए है वह निज हित का तुमसे बड़ा भरोसा।
उससे होना उऋण प्रथम है सत्कर्त्तव्य तुम्हारा।
फिर दे सकते हो वसुधा को शेष स्वजीवन सारा॥"

[४०]

जो कुछ कहना था सब मैंने तुमसे कहा खुलासा।
जाता हूँ, उत्तर लेने की है न मुझे अभिलाषा।
मैंने भी घर से बाहर हो बड़ा भाग जीवन का।
खोया है निश्चिन्त मूढ़ सा आश्रय ले गिरि वन का॥

[४१]

"प्रभु की एक प्रेरणा से जब समझ पड़ा भ्रम अपना।
हाय! हो चुका था तब तन का बल विक्रम सब सपना।
निपट शिथिल अङ्गों के द्वारा सब प्रयत्न निष्फल था।
बचा लोक-सेवा करने को केवल भाषण-बल था।"

[४२]

"उसी शक्ति से बोल लोक-हित जो कुछ हो सकता है।
करता हूँ फिर कर जब तक मस्तिष्क नहीं थकता है।
मैं कर चुका समर्पण सब कुछ इच्छा पर ईश्वर की।
ईर्ष्या नहीं निरादर की है प्रीति नहीं आदर की॥"

[४३]

"मैंने निज कर्त्तव्य समझ समझाया तुम्हें तुम्हारा।
तुम स्वतन्त्र हो, करो तुम्हें जो लगे हृदय से प्यारा।
कुञ्जी है इस अखिल विश्व की यह मस्तिष्क तुम्हारा।
कर सकते हो प्राप्त सकल ऐश्वर्य इसी के द्वारा॥"

[४४]

"फिर कहता हूँ, डरो न दुख से कर्म-मार्ग सम्मुख है।
प्रेम-पंथ है कठिन, यहाँ दुख ही प्रेमी का सुख है।
कर्म तुम्हारा धर्म अटल हो कर्म तुम्हारी भाषा।
हो सकर्म मृत्यु ही तुम्हारे जीवन की अभिलाषा॥"

[४५]

यह कह शान्ति भाव से भूषित साधु सरल मृदु गति से।
बन में हुए विलीन पथिक को वञ्चित कर सङ्गति से।
छिटक रही थी स्निग्ध चाँदनी पवन तान भरता था।
ज्योत्स्ना में पत्ते हिलते थे जल छप-छप करता था॥

(पथिक से)

सुमित्रानन्दन पन्त

पं० सुमित्रानन्दन पन्त का जन्म ता० २४ मई सन् १९०० को अल्मोड़ा प्रान्त में हुआ। प्रकृति-प्रेमी और भावुक होने के कारण इंटरमीडिएट तक पढ़कर छोड़ दिया, और प्रकृति को ही आपने शिक्षा का केन्द्र बनाया। इनमें कविता की रुचि स्वाभाविक थी। आपने सदा खड़ी बोली में ही रचना की है जिस में संस्कृत की पुट बहुत रुचिकर है। भाव की गंभीरता, भावानुरूप भाषा और माधुर्य्य आप की कविता के विशेष गुण हैं। नवीन ढङ्ग की रचना करने से ये हिन्दी के नवीन युग प्रवर्त्तक कवि माने जाते हैं। कविता को छन्दों के जटिल बन्धन से स्वच्छन्द करने का प्रयत्न आप की अतुकान्त रचना (Blank verse) तथा मुक्त-छन्द-योजना में पग पग पर दृष्टिगोचर होता है। बाह्य प्रकृति और मनोभाव एवं भाव तथा भाषा का सामञ्जस्य आप की कविता को और भी चमत्कृत करता है। छायावाद की परिपाटी के अनुसार मनोविकारों को साकार मान कर उनकी चेष्टाओं इत्यादि के वर्णन में की गई कल्पनाएं बहुत रुचिकर हैं। प्राचीन उपमाओं का नए ढङ्ग से प्रयोग तथा नवीन उपमाओं की कल्पना ने इनके काव्य को और चमत्कृत बना दिया है। इनकी कविताओं के संग्रह 'उच्छ्वास', 'वीणा', 'पल्लव', 'गुञ्जन' आदि नामों से प्रकाशित हो चुके हैं।

स्वप्न

(१)

बालक के कम्पित अधरों पर,
किस अतीत-स्मृति का मृदुहास।
जग की इस अविरल निद्रा का,
करता है रह रह उपहास॥
स्वप्नों की उस स्वर्ण सरित का,
सजनि कहां है जन्मस्थान।
मुसकानों में उछल-उछल वह,
बहती है किस ओर अजान॥

(२)

किन कर्मों की जीवित छाया,
उस निद्रित विस्मृति के संग।
आंख-मिचौनी खेल रही है,
किन भावों की गूढ़ उमंग॥

मुंदे नयन पलकों के भीतर,
किस रहस्य का सुखमय चित्र।
गुप्त वञ्चना के मादक कर,
खींच रहे हैं सजनि विचित्र॥

(३)

निद्रा के उस अलसित वन में,
वह क्या भावी की छाया।
दृग पलकों में विचर रही है,
भुवन - मोहिनी यह माया॥
नयन नीलिमा के लघु नभ में,
यह किस सुखमा का संसार।
विरल इन्द्र-धनुषी बादल सा,
बदल रहा है रूप अपार॥

(४)

मुकुलित-पलकों के प्यालों में,
किस स्वप्निल मदिरा का राग।
इन्द्रजाल सा गूंथ रहा है,
किन पुष्पों का स्वर्ण पराग॥
किन इच्छाओं के पङ्खों में,
उड़ उड़ ये आंखें अनजान।
मधुबालों सी छाया बन की,
कलियों का मधु करतीं पान॥

(५)

मानस की फेनिल लहरों पर,
किस छवि की किरणें अज्ञात।
स्वर्ण वर्ण में लिखतीं अविदित,
तारक लोकों की शुचि बात॥
अलि किन जन्मों की सिञ्चित सुधि,
बजा सुप्त तंत्री के तार।
नयन नलिन में बंधी मधुप सी,
करती मर्म मधुर गुञ्जार॥

(६)

पलक यवनिका के भीतर छिप,
हृदय मञ्च पर छविमय।
सजनि अलस के मायावी शिशु,
खेल रहे कैसा अभिनय॥
मीलित नयनों का अपना ही,
यह कैसा छायामय लोक।
अपने ही सुख दुख इच्छाएं,
अपनी ही छवि का आलोक॥

(७)

मौन मुकुल में छिपा हुआ जो,
रहता विस्मय का संसार॥

सजनि कभी क्या सोचा तूने,
　　　　वह किसका है शयनागार
प्रथम स्वप्न उसमें जीवन का,
　　　　रहता है अविकच अज्ञान
जिसे न चिन्ता छू पाती है,
　　　　जो है केवल अस्फुट गान ॥

(८)

जब शशि की शीतल छाया में,
　　　　रुचिर रजत किरणों सुकुमार ।
प्रथम खोलती हैं कलिका के,
　　　　अन्तःपुर के कोमल द्वार ॥
अलिबाला से सुन तब सहसा,
　　　　जग है केवल स्वप्न-असार ।
अर्पित कर देती मारुत को,
　　　　वह अपने सौरभ का भार ॥

(९)

हिम-जल बन तारक पलकों से,
　　　　उमड़ मोतियों से अवदात ।
सुमनों के अधखुले दृगों में,
　　　　स्वप्न लुढ़कते हैं जो प्रात ॥
उन्हें सहज अञ्चल में चुन चुन,

गूंथ उषा किरणों में हार।
क्या अपने उर के विस्मय का,
तूने अभी किया शृङ्गार॥

(१०)

विजन-नीड़ में चौंक अचानक,
विटप बालिका पुलकित-गात।
जिन सुवर्ण स्वप्नों की गाथा,
गा गा कर कहती अज्ञात॥
सजनि कभी क्या सोचा तूने,
तरुओं के तम में चुपचाप।
दीप शलभ दीपों को चमका,
करते हैं जो मौनालाप॥